प्रमाणप्रमोदः

सम्पादिका
उज्ज्वला शर्मा

श्रीलालबहादुरशास्त्रि राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् दिल्ली

प्रमाणप्रमोदः

संस्कृतविद्यापीठप्रकाशनमालायाः षष्ठं पुष्पम्

म० म० चित्रधर-विरचितः

प्रमाणप्रमोदः

म० म० दुःखमोचन झा कृत संस्कृतव्याख्योपेतः

सम्पादिका
उज्ज्वला शर्मा

प्रस्तावना
डा० वी० राघवन्

श्रीलालबहादुरशास्त्र राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्
दिल्ली १९६८
विक्रम संवत् २०२४

प्रकाशकः
डा० मण्डनमिश्रः, निदेशकः
श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,
दिल्ली-७

प्रथमसंस्करणम्
मूल्यम् ७-५० पणाः
(श्री ला० ब० शा० रा० संस्कृत विद्यापीठस्य तत्त्वावधाने सम्पादितम्)

मुद्रकः
सत्साहित्य केन्द्र प्रिंटर्स
१७३-डी, कमलानगरम्
दिल्ली-७

समर्पणम्

विविधविद्यावदातचेतसां

भारतीयसंस्कृतिसंस्कृतयोः सेवायां समर्पितसर्वस्वानां

अस्माकं पूज्यपादमातामहानां श्रीमतां

'बुद्धदेवविद्यालङ्कार' इति विश्रुतनाम्नां

सम्प्रति गृहीतसंन्यासाश्रमाणां

स्वामिसमर्पणानन्दसरस्वतीमहाभागानाम्

करकमलयोः

समर्पितमिदमस्माकं प्रथमग्रन्थपुष्पम्

दिनांक १ अगस्त १९६८

उज्ज्वला शर्मा

सम्पादिका

आभार प्रदर्शन

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ के शिक्षकवर्ग की सदस्या होने के नाते, जब 'प्रमाणप्रमोद' के विवेचनात्मक सम्पादन का प्रस्ताव मेरे सामने आया तो इस दायित्व को उठाने का लोभ मैं सम्वरण न कर सकी। इस के प्रति आकृष्ट होने के पीछे नए कार्य का अनुभव अर्जित करने की लालसा तो थी ही, एक मुख्य कारण यह भी था कि न्याय-दर्शन में मेरी आरम्भ से ही रुचि रही है। चिन्त्य और चिन्तक के अतिरिक्त चिन्तन-विधि और साधन की प्रामाणिकता के ऊपर जो बल न्याय-प्रणाली में दिया गया है वह दार्शनिक चिन्तन को वैज्ञानिक परिशुद्धता के समकक्ष ले आता है। अस्तु, इस पुस्तक के सम्पादन का सुअवसर प्रदान करके हमारे निदेशक डा० मण्डनमिश्र जी ने जो मेरा उत्साह बढ़ाया है उसके लिए मैं उनकी अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

इस कार्य को जैसा भी मैं कर पाई हूँ वह विद्वज्जनों की सेवा में प्रस्तुत है। इसके गुण-दोषों की परख करना भी उन्हीं का अधिकार है। तथापि मैं यह विनम्र निवेदन करूंगी कि पुस्तकालयों में तथा अन्यत्र जो भी सामग्री इस समय तक 'प्रमाणप्रमोद' के सम्बन्ध में उपलब्ध हैं, उस सबका समावेश भूमिका में करने का मैंने यथाशक्ति प्रयास किया है। इस कठिन एवं प्रयत्न साध्य कार्य को करने में जो भी अल्पाधिक सहजता की अनुभूति मुझे हुई उसके लिए पं० धीरानन्द मिश्र जी की मैं विशेष ऋणी हूँ जिन्होंने रुचि और उत्साह के साथ 'प्रमाणप्रमोद' की मैथिली लिपि में लिखी व्याख्या का देवनागरी लिप्यन्तरण करने में मुझे बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया। ग्रन्थ-सम्बन्धी सामग्री संकलन करने में भी उन्होंने मुझे उपयोगी संकेत दिए। दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आदरणीय श्री व्रजमोहन चतुर्वेदी जी ने संकलित सामग्री को व्यवस्थित करने में मेरा मार्गदर्शन किया। शिक्षा-मन्त्रालय, भारत सरकार के डा० रामकरण शर्मा जी, श्री गोपानन्द जी झा एवं श्री मणिनाथ झा जी से भी समय-समय पर मुझे उपयोगी सुझाव मिलते रहे। मैं इन सबकी हृदय से कृतज्ञ हूँ। साथ ही मैं आचार्य विश्वेश्वर प्रभृति महानुभावों के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थ इस कार्य में विशेष उपादेय सिद्ध हुए।

अन्त में, मैं मूर्धन्य मनीषी श्रद्धेय डा० वी० राघवन् महोदय की परम आभारी हूँ जिन्होंने मेरे इस विनम्र प्रयास को अपनी प्रस्तावना से अलंकृत कर गरिमा प्रदान की।

—उज्ज्वला शर्मा

FOREWORD

Mahāmahopādhyāya Citradhara belonged to the galaxy of Maithila Pandits who distinguished themselves in several branches of Sanskrit literature and especially in Nyāya. He belonged to the 18th century A. D. and his pupil Mm. Sacala refers to him as Sarvajña. Two of his works which have been brought to light recently are the *Vīrataraṅgiṇī*[1] and the *Śṛṅgārasāriṇī*[2].

The *Śṛñagārasāriṇī* belongs to the class of works in Alaṅkāra Śastra which deal at length with the Śṛṅgāra Rasa. Citradhara is the first to turn his attention to a Rasa other than *Śṛṅgāra* and to give us in his *Vīrataraṅgiṇī* a text dealing exclusively with the *Vīra Rasa.* Two other poetic pieces of his, the *Rājastutipadya* and the *Vināyakastava,* are cited by him in his last mentioned work.

What is offered in the following pages is a fifth work of Citradhara, in the field of Nyāya. The *Pramāṇapramoda,* as this work is called, had been previously mentioned but this is the first time it is brought into print.

The *Pramāṇapramoda* is a short treatise on Nyāya Theism. After a preliminary section on the sources of the knowledge about God, Śruti and Smṛti, Citradhara cites the well-known Kārikā from Udayanācārya's Nyāyakusumāñjali (V. 1) on the nine proofs for the *existence* of God, *Kāryāyojanadhṛtyādeh* etc. In the course of the elucidation of the arguments set forth by Udayana in the above mentioned Kārikā, the objections of the anti-theists are also posed and answered.

The *maṅgala-śloka* of the text describing the *Upaniṣad* as the bashful *Mugdhā Nāyikā,* with Lord as the Nāyaka, and the working in of the elements of *Śābdabodha* through *Śleṣa,* shows the skill of the author who unites in himself the poet and the *Naiyāyika.* The edition carries the gloss of Duḥkhamocana Jha on the text.

1,2 Editions Dr. Trilokanatha Jha, Darbhanga, 1965.

The Editor Smt. Ujjwala Sharma has to be congratulated on her efforts to bring out an edition of this work. In her we have not only a student of Sanskrit language and literature who has had a consistently brilliant record but also a rare combination of artistic gifts and flair for participation in Sanskrit cultural activities.

I wish her all success in her career and hope she will continue her research work and bring out many more Editions and Studies.

V. Raghavan
Professor of Sanskrit

University of Madras,
30th June 1968

प्रकाशकीयम्

संस्कृतवाङ्मये न्यायविद्यायाः विशिष्टं स्थानमस्ति । आन्वीक्षिक्या अस्याः समध्ययनेन शास्त्राणां परेषामध्ययनं सौकर्यमयते । तत्र प्राचीनसमयादेव मिथिलामही महन्महत्त्वमावहति महतेऽस्मै शास्त्राय । इमेऽपि प्रस्तुतमूलग्रन्थरचयितारो म० म० चित्रधरोपाध्यायास्तद्व्याख्यातारो म० म० दुःखमोचनझाप्रभृतयः परम्परायामस्यामेव प्रादुरभूवन् । अत एवासौ महत्त्वास्पदग्रन्थः सव्याख्यः प्रमाणप्रमोदः प्रागप्रकाशितः श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठप्रकाशनमालायाः षष्ठपुष्परूपेण प्रकाश्यते । प्रदर्श्यते चात एव हार्दिकी कृतज्ञता विद्यापीठस्यास्य माननीयसभापतये डा० कर्णसिंहमहोदयाय, शोध-प्रकाशनसमितिसदस्येभ्यः, विशेषेण डा० रामधारीसिंहदिनकर महानुभावाय, डा० रामकरणशर्ममहाभागाय, डा० टी० जी० मैनकरमहोदयाय, म० म० श्रीपरमेश्वरानन्दशास्त्रि महाशयाय च, येषां सम्मतिमासाद्यैवासौ ग्रन्थः प्रकाशितः ।

ग्रन्थस्यास्य प्रस्तावना संस्कृतवाङ्मयस्याद्यतनैः कर्णधारैः डा० राघवन्महोदयैरलेखि इति नूनमस्य प्रकाशनस्य श्रियै, विद्यापीठप्रकाशनमालाया गौरवाय, ग्रन्थस्यास्य सम्पादिकायाः श्रीमत्या उज्वलासुभगायाःशुभोदयाय अभूदिति हृदयेन डा० राघवन्महाशयेभ्यः कृतज्ञोऽस्मि । समनुगृहीतोऽस्मि च प्रस्तुतग्रन्थसम्पादिकाया अनुरोधेनैतद्ग्रन्थसमर्पणस्वीकारेण भारतीयसंस्कृतिसंस्कृतयोरनुरागिणां पण्डितवराणां परमपूज्यानां स्वामिसमर्पणानन्दसरस्वती (पं० श्रीबुद्धदेवविद्यालङ्कार) महाभागानाम् ये समर्पणमिदं कृपया स्वीकृत्य सम्पादिकामस्मांश्च सर्वानाशीराशिभिः समवीवृधन् ।

ग्रन्थस्यास्य सफलसम्पादने उज्ज्वलाशर्ममहाभागा यादृशस्य स्वविलक्षणवैचक्षण्यस्य प्रकाशनकौशलस्योत्तरदायित्वस्य च परिचयमदुः तदर्थमिमाः साधुवादार्हाः; स्वप्रशिक्षणे च प्राचीनभारतीयपरम्परायाः साम्प्रतिकपाश्चात्यपरम्परायाश्च यादृशं समन्वयप्रदर्शनमिमा अकुर्वन् तदपि गौरवाय अस्माकं विद्यापीठस्येति वेद्मि ।

आशासे च ग्रन्थाय अस्मै विद्वत्समाजे विद्वद्भिः समुचितं स्थानं दास्यत इति ।

आषाढ़कृष्णैकादशी
२०२४ वि० सं०
दिल्ली-७

डा० मण्डनमिश्रः
निदेशकः
श्रीला०ब०शा०रा०संस्कृतविद्यापीठस्य

विषय-सूची

सम्पादकीयम्

(क) चिन्तन की परम्परा और आन्वीक्षिकी विद्या

हम ज्ञानेन्द्रियों से जिस वस्तु का साक्षात्कार करते हैं उसे दृश्य जगत् कहा जाता है। इसके सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना ही आधुनिक विज्ञान का उद्देश्य है। किन्तु वही पर्याप्त नहीं। इस दृश्य का द्रष्टा कौन है? इसकी जानकारी के प्रति यद्यपि सबको कुतूहल नहीं होता किन्तु इसका ज्ञान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। ज्ञान के इस युग में इसका महत्त्व इसलिये और भी अधिक हो जाता है कि आज तक जिन्हें हम दृश्य कहकर विषय मानते आये हैं, विज्ञान ने उन्हें भी सचेतन एवं विषयी सिद्ध कर दिया है। ऐसी स्थिति में द्रष्टा और दृश्य के भेद का विवेचन और भी कठिन और सूक्ष्म हो जाता है। इन दोनों के अतिरिक्त प्रबुद्ध चिन्तक की बुद्धि इस ओर भी आकृष्ट होती है कि इस दृश्य एवं द्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध का कारक कौन तत्त्व है जिससे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र-मण्डल, पृथ्वी, वायु आदि अतिमहनीय प्राकृतिक तत्त्व तथा प्राणियों का अखिल व्यापार नियन्त्रित होता है। दृश्य, द्रष्टा एव नियन्ता के विषय में विवेचन कर उनके वास्तविक स्वरूप का प्रामाणिक ज्ञान उपस्थित करना ही दर्शन शास्त्र का विवेच्य विषय है। यही कारण है कि न केवल भारत ही अपितु अखिल विश्व के दार्शनिक चिन्तकों ने जीव, जगत् और ईश्वर का ही विविध रूप से विवेचन किया है।

दर्शन शास्त्र में विषय विवेचन की दो प्रणालियाँ विहित हैं। उसके प्रयोक्ताओं में से एक को लक्षणैक-चक्षुष्क और दूसरे को लक्ष्यैकचक्षुष्क कहा जाता है।

लक्ष्यैकचक्षुष्क चिन्तक पहले अपने लक्ष्य का निर्धारण कर लेते हैं अनन्तर तदनुरूप ही लक्षण की सृष्टि करते हैं। उदाहरणतः अद्वैत वेदान्त पहले सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म या जीव ब्रह्म की एकता रूप अपने लक्ष्य का निर्धारण कर लेता है अनन्तर ही उसकी सिद्धि के लिये अपेक्षित प्रमाणों एवं सिद्धान्तों का उपस्थापन करता है। यही स्थिति सांख्य एवं मीमांसा की भी है। किन्तु न्याय वैशेषिक प्रभृति कुछ अन्य वाद प्रमाण की पद्धति को प्रमेय से अधिक

महत्त्व इसलिये देते हैं कि उसके प्रबल होने से प्रमेय की पुष्टि सुतरां सरल हो जाती है। दर्शन की इसी प्रक्रिया का नाम न्याय है ; जो न्यायशास्त्र की नवीन धारा में पुरातन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से अपनाई गई है। इसीलिये इसकी परिभाषा करते हुए वात्स्यायन कहते हैं :

प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।

इसी परिभाषा के आधार पर वार्त्तिककार ने इस प्रकार इसका लक्षण किया है—

"समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः।

न्याय विद्या के ही दूसरे अभिधान आन्वीक्षिकी का अर्थ-विधान करते हुए न्याय भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं—

"प्रत्यक्षागमाभ्यां ईक्षितस्य अन्वीक्षणमन्वीक्षा,
तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्॥"

तर्क की सहायता से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के आधार पर किसी सिद्धान्त का परीक्षण ही न्याय का कार्य है।

तर्क ही प्रमाणों को पुष्ट और सबल बनाता है और तर्क या मनन से ही प्रमाणों का ग्रहण होता है—

"प्रमाणानामनुग्राहकस्तर्कः"[१]

न्याय सूत्रकार ने भी षोडश पदार्थों में तर्क नामक पदार्थ माना है और उसका लक्षण इस प्रकार किया है—

"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।"[२]

परन्तु केशवमिश्र की तर्कभाषा, अन्नंभट्ट का "तर्कसंग्रह" आदि तर्क सम्बन्धी ग्रन्थों के टीकाकारों ने तर्क की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है "तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते, इति तर्काः प्रमाणादयः षोडशपदार्थाः।" इस प्रकार तर्क का अर्थ प्रमाणदि षोडश पदार्थ किया गया है। न्याय शास्त्र के अन्तर्गत तर्क के इसी महत्त्व के कारण इसको 'तर्क-विद्या' कहकर भी पुकारा जाता है।

---

(१) न्यायभाष्य १-१-१,

(२) न्यायसूत्र १-१-४०

तर्क मनन या चिन्तन विचारशील मानव की नैसर्गिक आवश्यकता है। दु:ख से पीड़ित मानव मन उसके निवारण के उपाय ढूँढ़ता है और इस अनवरत खोज में उसके हृदय में अनेक प्रश्न उठते हैं। जिन प्रश्नों को हम संशय का नाम दे सकते हैं। इस संशय को परिभाषा न्याय सूत्रकार ने इस प्रकार की है—

"समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रपतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्य-
व्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।"[1]

इस संशय के समाधान पाने की इच्छा से ही तर्क की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। संशय ही तर्क को जन्म देता है अतः वात्स्यायन ने कहा है—

"नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते,
किं तर्हि ? संशयितेऽर्थे।"[2]

अर्थात् किसी भी वस्तु के विषय में प्रश्न का उठना ही इसका द्योतक है कि न तो वह वस्तु पूर्णतया अज्ञात है और न ही वह पूर्णतया ज्ञात। तर्क की सहायता से ही समस्या के समाधान पर या किसी निर्णय पर पहुंचा जा सकता है। गौतम के न्यायसूत्र[3] में निर्णय का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—

"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।"[3]

अर्थपरीक्षण के साथ-साथ अपने सिद्धान्तों का प्रतिपक्षी से संरक्षण भी न्यायशास्त्र की सूक्ष्म परीक्षणात्मक प्रक्रिया से ही सम्भव है। इसी कारण न्यायशास्त्र में जल्प और वितण्डा की पदार्थ रूप में प्रतिष्ठा है। सिद्धान्त के संरक्षण के सहायक रूप में इनका प्रयोजन न्याय भाष्यकार द्वारा निम्नलिखित शब्दों में निर्दिष्ट है।

"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे, कण्टकशाखावरणवत्।"

इस प्रकार न्यायशास्त्र की वस्तु परीक्षण की प्रक्रिया सबसे अधिक वैज्ञानिक है। किसी भी तत्व के चाहे वह लौकिक ह या अलौकिक, वास्तविक स्वरूप के ज्ञान की उपलब्धि की जो क्षमता इसमें है वह किसी अन्य शास्त्र में नहीं है। इसलिये इसके महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि—

---

(१) न्यायसूत्र १-२३
(२) न्यायभाष्य, १-१-१
(३) १-१-१४।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्विक्षिकी मता" ॥

अतः संस्कृत साहित्य की समस्त विधाओं में चाहे वह व्याकरण, धर्मशास्त्र, अलंकार या काव्य क्यों न हो परिष्कृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये न्यायविद्या का प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य है । इसकी दुर्बोधता भी यदि विचार करें तो अन्त में उपकारक ही सिद्ध होती है । न्यायशास्त्र का अभ्यास करने से बुद्धि इतनी मंज जाती है कि फिर किसी भी शास्त्र का अध्ययन अत्यन्त सरल हो जाता है । इस विद्या के भिन्न-भिन्न प्राचीन नाम हैं : आन्विक्षिकी, हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कविद्या, तर्कशास्त्र, वाद विद्या, न्याय विद्या, न्यायशास्त्र, प्रमाणशास्त्र, वाकोवाक तक्की, विमंसी आदि ।

आन्विक्षिकी का उल्लेख उपनिषद्[१] रामायण[२] महाभारत[३] मनुस्मृति[४] अर्थशास्त्र,[५] गौतमधर्मसूत्र[६] में कई स्थलों पर उपलब्ध है ।

(ख) ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार

मिथिला की पावन भूमि राजर्षि जनक के समय से ही अध्यात्म-विद्या का केन्द्र रही है । जनक की राजसभा में ब्रह्मिष्ठ की खोज हुई । याज्ञवल्क्य एवं गार्गी का अध्यात्म विषयक शास्त्रार्थ इसी भूमि में हुआ । इस प्रकार जहाँ वह एक ओर भारत की गरिमामयी संस्कृति का प्रेरकस्थल रही है वहाँ दूसरी ओर शताब्दियों तक उच्च कोटि के दार्शनिक एवं कवियों की अमृतमयी वाग्धारा से आप्लावित होने के कारण विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती कहलाने के गौरव से भी मण्डित रही ।

पारिजातहरण महाकाव्य में कवि कर्णपूर ने मिथिला की प्रशंसा करते हुए कहा है :—

---

(१) बृहरदार० २-४-५, छान्दो०—७-१-२ ।
(२) अयोध्याकाण्ड, १००-३६
(३) शान्तिपर्व, १८०-४७
(४) ७-४३
(५) १-२,७ ।
(६) ११-३ ।

"जानकीजननभूमिरीक्ष्यतां अम्बुजाक्षि मिथिलेयमग्रतः ।
यत्र विज्ञवदनेषु दर्पिता नृत्यति प्रतिगृहं सरस्वती ॥"

मिथिला में पल्लवित होने वाली विद्वानों की इस अद्भुत परम्परा की यह विलक्षणता रही है कि वे गहन दार्शनिक चिन्तन में एवं साहित्य के कमनीय पक्ष के प्रणयन में समान रुचि लेते थे । इस प्रकार के दार्शनिक कवियों की इस परम्परा में म० म० शङ्कर, म० म० गोकुलनाथ, सर्वतंत्र स्वतंत्र धर्मदत्त आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । इस भूमि की विद्वन्मंडली का तो यह उद्घोष ही था कि—

"काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्ये ।
तर्केषु कर्कशधियो वयमेव नान्ये ॥"

म०म० चित्रधर उस परम्परा के अनुयायी हैं जो मुख्य रूप से काव्यप्रणयन में तत्पर थी और साथ ही दार्शनिक ग्रन्थों की रचना में भी रुचि लेती थी । मिथिला में प्रणीत दर्शन सम्बन्धी विपुल वाङ्मय अधिकतर न्यायशास्त्र की नवीन धारा से सम्बन्धित है और यदि यह कहा जाए कि नव्य न्याय की लम्बी परम्परा के बड़े अंश के सृजन का श्रेय मिथिला की भूमि को है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । इसीलिये मिथिला में पल्लवित होने वाली नव्यन्याय की परम्परा का अपना स्वतंत्र इतिहास है, जो बहुत कुछ तो प्रकाश में आ चुका है पर बहुत कुछ अभी भी आने को अवशिष्ट हैं । डा० त्रिलोकनाथ झा सरीखे वरिष्ठ विद्वानों के अध्यवसाय का ही फल है कि म० म० चित्रधर जैसे विस्मृत विद्वानों का नाम प्रकाश में आ सका है और निरन्तर आ रहा है । उनके द्वारा म० म० चित्रधर की पाँच कृतियों में से दो कृतियों का सम्पादन किया गया है । पहली 'वीर-तरङ्गिणी' है और दूसरी 'श्रृङ्गारसारिणी' । वीर-तरङ्गिणी' की भूमिका में उन्होंने 'प्रमाण-प्रमोद' का भी उल्लेख किया है ।

प्रकृत ग्रन्थ 'प्रमाण-प्रमोद' के प्रणेता का नाम यद्यपि मुझे उपलब्ध पाण्डुलिपि में कहीं भी लिखित नहीं मिला है, एवं न ही इस ग्रन्थ की एकमात्र उपलब्ध संस्कृत व्याख्या के कर्त्ता म० म० दुःखमोचन झा ने ही कहीं मूलग्रन्थ के कर्त्ता के नाम का उल्लेख किया है, किन्तु वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय में संगृहीत इसी ग्रन्थ की एक अन्य पाण्डुलिपि की पुष्पिका[1] में

ग्रन्थकर्त्ता का नाम म० म० चिलधर दिया गया है । **सारस्वती सुषमा**[२] में उसका **विवरण** प्रस्तुत करते हुए ढुण्ढिराज शास्त्री ने ग्रन्थकर्त्ता का नाम म० म० चित्त-**धर मिश्र** लिखा है एवं ग्रन्थ का नाम प्रमाण-विनोद दिया है । किन्तु ग्रन्थ का नाम प्रमाण-प्रमोद ही है इस के अनेक प्रमाण[3] मिल चुके है । मूल प्रमाण-प्रमोद की एक और पाण्डुलिपि जो मिथिला के प्रसिद्ध अर्वाचीन नैय्यायिक पण्डित लोकनाथ झा के हाथ की लिखी हुई है उसकी पुष्पिका में भी ग्रन्थ-प्रणेता का नाम म० म० चित्तधर एवं ग्रन्थ का नाम प्रमाण-प्रमोद ही लिखा है—"म० म० श्री श्रीमच्चित्तधर प्रणीतः प्रमाण-प्रमोदः परिपूर्णः ।" श्रीरस्तु

१- इति श्री महामहोपाध्याय श्री श्रीमच्चित्तधरशर्मप्रणीतः प्रमाणप्रमोदः (विनोदः) परिपुष्टः ।

२- महामहोपाध्यायपण्डितगोपीनाथकविराज-एम० ए० महोदयानां (हिस्ट्री एण्ड बिब्लिऔग्राफी ऑफ न्याय वैशेषिक लिटरेचर, सरस्वती भवन स्टडीज, भाग ४-५) शतीशचन्द्रविद्यालङ्कारा णां "हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लाजिक च ग्रन्थेषु मिथिलानव्यन्यायेतिहासादिषु म०म० चित्तधरमिश्रीयः कोऽपि परिचयो नोपलभ्यते ।—प्रस्तुतः प्रमाणविनोदोऽपि प्रायशो नव्यन्यायप्रणालिकयैव विहित इत्यनुमीयते उपर्युक्त सूचीपत्र-निर्दिष्ट-निबन्धद्वयकर्त्ता प्रस्तुतग्रन्थविधाता चाभिन्न एव । अस्मिन् प्रमाण विनोदेऽपि कर्त्रा कोऽपि परिचयो नोक्त इति यत्ने विहितेऽप्येतदैतिह्य विषयेऽस्माभिर्विशेषतः प्रकाशयितुमशक्यम् ।
(सारस्वती सुषमा से)

३- (a) **Catalogus Catalogorum** by Theoder Aufrecht Part–1 Page–354

(b) Catalogues of Skt. MSS by F. Kielhorn, Nagpur (1874)

(c) Notices of Skt. MSS by Rajendralal Mitra Calcutta 1871.

l) A contribution towards an index to the Bibliography of the Indian Philosophical Systems by Filzedward Hall, Calcutta 1859.

सरस्वती भवन के पुस्तकालय से प्राप्त प्रमाण-प्रमोद की पुष्पिका[1] के अनुसार भी यह सिद्ध होता है कि प्रमाण-प्रमोद को ही यदा कदा प्रमाण-विनोद भी कहा जाता होगा क्योंकि वहाँ "प्रमाण-प्रमोद" इस नाम के साथ ही कोष्ठ में "विनोदः" भी लिखा गया है।

परन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है कि म० म० चित्रधर जैसे व्यक्ति जिनमें हम दार्शनिकता एवं कवित्व का समन्वय पाते हैं उन्होंने अवश्य ही प्रमाण के साथ प्रमोद शब्द के प्रयोग में विनोद शब्द के प्रयोग से अधिक आलङ्कारिक सौन्दर्य एवं सार्थकता पाई होगी। वैसे भी ग्रन्थ के आरम्भ में दिए मङ्गलाचरण में अभिव्यक्त होने वाले भक्त हृदय को ईश्वरसिद्धि के निरूपण में होने वाले आनन्द की अभिप्रेत अभिव्यक्ति विनोद शब्द की अपेक्षा प्रमोद शब्द से ही अधिक होती है। एवं ग्रन्थ की गरिमा को देखते हुए भी प्रमाण शब्द के साथ प्रमोद शब्द ही अधिक सङ्गत प्रतीत होता है। अतः यह सम्भावना करना कि म० म० चित्रधर प्रमोद या विनोद के रखने में निश्चय नहीं कर पाए थे युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अतः कोष्ठ में लिखा विनोद पद लेखक द्वारा ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। एवं यह मूल ग्रन्थकार का प्रयोग नहीं हो सकता। यह निःसन्देह है।

(ग) मूलग्रन्थ-लेखक का समय एवं वंश परिचय

महामहोपाध्याय चित्रधर, महामहोपाध्याय वंशधर के ज्येष्ठ पुत्र एवं चतुर्भुज के प्रपौत्र थे। मिथिला में म०म० वंशधर की न्याय के उत्कृष्ट विद्वानों में गणना की जाती थी। इनकी कृति गौतम-सूत्र की व्याख्या "अन्वीक्षातत्वपरीक्षा" न्याय का एक अपूर्व ग्रन्थ है जो अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। इनके द्वारा रचित धर्मशास्त्र विषयक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इन्हीं के कनिष्ठ पुत्र म०म० चित्रधर के अनुज म०म० रुद्रधर मिथिला के प्रसिद्ध निबन्धकारों में गिने जाते हैं। वंशधर के मातुल म०म० गोकुलनाथ जो म०म० पीताम्बर विद्यानिधि के पुत्र थे, उदयन, वाचस्पति एवं पक्षधर के बाद उसी

१- इति श्री महामहोपाध्याय श्री श्रीमच्चित्रधरशर्मप्रणीतः प्रमाणप्रमोदः (विनोदः) परिपुष्टः।।

परम्परा की प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाले हुए हैं। इन्होंने न्याय-वैशेषिक, वेदान्त, व्याकरण, अलङ्कार, काव्य, नाटक, ज्योतिष, कर्मकाण्ड, धर्मशास्त्र तथा नागरिक-व्यवस्था सम्बन्धी शास्त्रों का निर्माण कर सभी शास्त्रों पर समान अधिकार का प्रदर्शन किया है। यही कारण है कि वंशपरम्परागत प्रौढ़ एवं बहुमुखी प्रतिभा इस 'प्रमाण-प्रमोद' में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

म० म० चित्रधर के निवास स्थान के विषय में अन्यान्य विद्वानों ने अब तक जो लिखा है उसका निर्गलित यही है कि वह मिथिला के मँगरौनी ग्राम (मंगलवनी) के निवासी थे। इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि मँगरौनी उनका अपना पैतृक निवास स्थान नहीं था अपितु इनके पिता वंशधर का ननिहाल था। म० म० गोकुलनाथ म० म० वंशधर के मामा थे एवं मँगरौनी उनका निवास स्थान माना गया है। मिथिला प्रदेश में प्रचलित किंवदन्ती से यह ज्ञात होता है कि म० म० गोकुलनाथ को अपने भाँजे वंशधर से विशेष स्नेह था। सम्भव है कि म०म० वंशधर विद्याध्ययनाध्यापन के प्रसङ्ग से अपने ननिहाल मँगरौनी में ही रहते रहे हों जिसके परिणाम स्वरूप उनके पुत्र हमारे वर्तमान ग्रन्थकार चित्रधर जी का बाल्यकाल तथा शिक्षा-दीक्षा भी वहीं सम्पन्न हुई हो। इसीलिये इनके भी मँगरौनी का होने की भ्रान्ति प्रचलित हो गई हो। वस्तुतः यह वहाँ के निवासी नहीं थे। चूँकि मँगरौनी इनके पिता के मामा का निवास स्थान था अतः स्वभावतः इनका मूल निवास स्थान नहीं हो सकता। इनका अपना निवास स्थान कहाँ था इसके सम्बन्ध में कोई भी जानकारी प्राप्त नहीं होती।

इनके कालनिर्णय के विचार के समय चित्रधर नाम से तीन विद्वानों का उल्लेख मिथिला के इतिहास में उपलब्ध होता है।

म० म० चित्रधर (प्रथम[1])-जो मिथिला के महाराज भैरवसिंह (१४८०ई०-१५१५) के समय में हुए। जिन्होंने १५वीं शताब्दी में मुरारि मिश्र के अनर्घ-राघव की व्याख्या की है।

चित्रधर (द्वितीय)–जो १८वीं शताब्दी में हुए। इनके पिता का नाम

---

(१) हिस्ट्री ऑफ मिथिला पृ०स० ३३४। मिथिला रिसर्च इन्स्टीट्यूट, दरभङ्गा से प्रो० उपेन्द्र ठाकुर द्वारा सम्पादित।

वंशधर था। तथा वे 'शृङ्गारसारिणी' एवं 'वीरतरङ्गिणी' के रचियता माने जाते हैं।

म० म० चिलधर (तृतीय)–यह मीमांसक थे एवं २०वीं शताब्दी में हुए हैं। उत्तर बिहार के दलसिंह सराय सबडिवीजन के अन्तर्गत टभका गाँव इनका वासस्थल था। इन तीन चिलधर नामक विद्वानों में 'प्रमाण-प्रमोद' के रचयिता द्वितीय चिलधर ही माने जाते हैं।

"हिस्ट्री आफ तिरहुत"[१] के आधार पर द्वितीय म०म० चिलधर का समय १९वीं ई० कहा गया है। किन्तु गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती पर "रस-प्रदीपिका" नामक टीका लिखने वाले म० म० सचल[२] ने, जो प्रस्तुत चिलधर के शिष्य थे, न्यायालय के लिये एक व्यवस्था पत्र लिखा है जो संस्कृत भाषा में निबद्ध है और ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी मंगलवार १७१६ शकाब्द में लिखा गया था। वर्तमान ख्रीष्टाब्द के अनुसार यह समय १० जून १७९४ ई० होता है।

एक दूसरा प्रमाण यह है कि पेशवा माधवराव नारायण द्वारा १७८८ई० में दो गाँव जबलपुर जिले में म० म० सचल को दिये गये थे।

मिथिला के महाराज माधवसिंह के द्वारा १७७९ ई० में दरभङ्गा जिले का चनौर गाँव महामहोपाध्याय सचल को दिया गया था। एवं महाराज प्रतापसिंह के द्वारा १७७१ ई० में जगत्पुर नामक गाँव म० म० सचल को दिया गया था।

स्व० डा० म० म० गङ्गानाथ झा[३] ने म० म० भवानीनाथ को ही म० म० सचल माना है एवं उनका समय १८वीं शताब्दी ई० माना है।

म० म० चिलधर के पिता वंशधर[४] गोकुलनाथ के भागिनेय थे और गोकुलनाथ का समय १६४० से १७०९ तक है।

---

(१) हिस्ट्री ऑफ तिरहुत पृष्ठ सं०-१२४।

(२) रसप्रदीपिका में आरम्भिक श्लोक ३–"सर्वज्ञादिव सम्प्राप्य श्री-चिलधरशर्मणः।"

(३) आर्यासप्तशती की व्याख्या "रसप्रदीपिका" की प्रस्तावना।

(४) "हिस्ट्री ऑफ नव्यन्याय इन मिथिला" पृष्ठ सं० १९३।

इन उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि म० म० वंशधर के पुत्र म० म० चित्रधर का समय १८वीं शताब्दी ई० है।

[1]डा० त्रिलोकनाथ झा के कथनानुसार वर्तमान लेखक की पाँच रचनाएँ सिद्ध होती है—

प्रमाणप्रमोद[2], वीरतरङ्गिणी, शृङ्गारसारिणी, राजस्तुतिपद्य, विनायकस्तव।

(घ) प्रकृत ग्रन्थ प्रमाण-प्रमोद का प्रतिपाद्य विषय

न्यायशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय दो कोटि में आते है पहला साधन कोटि में अर्थात् किसी सिद्धान्त के तात्विक विवेचन की प्रणाली क्या है? प्रतिपक्षी के सम्मुख विषय का उपस्थापन किस कौशल से हो? इसी सबसे पञ्चावयवी अनुमान वाक्य, स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान आदि का विशद विवरण इस शास्त्र में पाया जाता है। दूसरा प्रतिपाद्य विषय साध्यकोटि में आता है। वह है देहादि से व्यतिरिक्त नित्य आत्मा की सिद्धि। आत्मा की सिद्धि करना ही न्यायशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य है। यह बात और है कि इसको अधिक वैज्ञानिक एवं पूर्ण रूप देने के कारण साधन के अंश का विवेचन साध्य की अपेक्षा अधिक विशद रूप से किया गया है तो भी इसका प्रधान प्रतिपाद्य नित्य आत्मतत्त्व की स्थापना ही है। यह निःसंदिग्ध है। अतः प्रतिपाद्य के विषय के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सरल हो जाता है कि न्यायशास्त्र का जो स्वरूप हमें उपलब्ध है इसका जन्म आत्मवाद एवं अनात्मवाद के सैद्धान्तिक संघर्ष से आरम्भ हुआ। एवं इससे सम्बन्धित चिन्तन एवं तर्क से ही इसका विकास हुआ है।

यों तो भारतीय सभी दर्शनों में प्राणिमात्र में उपलभ्यमान चैतन्य के रहस्य की जिज्ञासा मुख्य रूप से रही है। दृश्यजगत् जड़ से भिन्न सचेतन आत्मतत्त्व की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है इसी की सिद्धि सभी वैदिक दर्शनों का उद्देश्य है। प्राणियों के सचेतन क्रियाकलाप का अहर्निश साक्षात्कार होते हुए भी चेतनता के अधिष्ठाता आत्मतत्त्व का अनुभव प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। इसी

---

(१) डा० त्रिलोकनाथ झा "वीरतङ्गणी की भूमिका" १९६५ ई०।

(२) हिस्ट्री ऑफ तिरहुत पृष्ठ सं० १२४।

इस कारणकी सिद्धि आपाततः नहीं हो पाती जैसा कि स्वयं म०म० अपने ग्रन्थ प्रमाणप्रमोद में कहते हैं—

कस्त्वां माताऽनुमातुं प्रभवति भवति स्वान्तवृत्तेर्निवृत्तिम् ।
वेदः प्रोवाच वाचामपि निगमकवे ! वेद कस्ते प्रवृत्तिम् ॥
वैजात्यात्त्वं तथापि स्वमतिविभवतः चिन्तितस्चेतसाऽभूः ।
कारुण्योद्रेकसिन्धुप्रवर ! मम मनाग् गोचरोऽस्याः दृशः स्याः ॥

अतएव आस्तिक दर्शन की प्रायः सभी विधाओं ने उसकी सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण का आश्रय लिया है। इस प्रकार प्रमाणों से आत्मतत्व की सिद्धि सभी वैदिक दर्शनों का मुख्य विषय है। न्याय दर्शन की यह एक विशेषता है कि उसकी विवेचना का मुख्य विषय जड़ व चेतन से भी ऊपर दृश्य और द्रष्टा का नियामक ईश्वरतत्त्व है। सभी दर्शनों में न्यायदर्शन का यह उद्घोष है कि वह अनुमान प्रमाण से ही, जिसकी प्रमाणिकता जैन एवं बौद्धों को भी स्वीकार्य है, ईश्वर की सिद्धि सम्यक् रूप से करता है। यही कारण है कि सूत्रकाल से ही न्याय-दर्शन के ग्रन्थों में ईश्वर की सिद्धि के लिए अनेकानेक युक्तियों का उपन्यास किया गया है।

न्याय दर्शन के इतिहास में एक ऐसा समय आया जब बौद्ध परम्परा में भी न्याय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकास हुआ। जिसका प्रादुर्भाव हिंसामय वैदिक कर्म-काण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था। इन बौद्ध नैय्यायिकों ने न्याय की युक्ति एवं तर्कों को खण्डित कर ईश्वर की सत्ता को निषिद्ध नहीं तो सन्दिग्ध अवश्य कर दिया। आरम्भ में यह भेद धार्मिक विचारधारा का भेद था परन्तु बाद में इसी ने सूक्ष्म दार्शनिक विचारधारा के भेद का रूप धारण कर लिया। यह भेदगत संघर्ष उत्तरोत्तर उत्कट ही होता गया जिसके परिणाम-स्वरूप वैदिक धर्म एवं बौद्ध धर्म दोनों में न्याय सम्बन्धी उच्चकोटि के ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस शास्त्रीय संघर्ष में वैदिक धर्म के संरक्षकों की ओर से अक्षपाद गौतम वात्स्यायन ३०० ई०, उद्योतकराचार्य ६२५ ई०, वाचस्पति मिश्र ८९८ ई०, और उदयनाचार्य ९२४ ई०, एवं बौद्ध नैय्यायिकों की की ओर से नागार्जुन ३०० ई०, दिङ्नाग ५०० ई०, वसुबन्धु ४८० ई०, धर्मपाल ६०० ई०, धर्मकीर्ति ६३५ ई०, कल्याण रक्षित ८२९ ई० आदि आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बौद्ध नैय्यायिक नागार्जन के 'त्र्यवयवानुमानवाक्य' की आलोचना करते

हुए वात्स्यायन भाष्य में पंचावयवानुमान वाक्य का प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन भाष्य में विज्ञानवाद एवं क्षणभंगुरवाद की भी आलोचना हुई है।

दिङ्नाग अपने ग्रन्थ "प्रमाणसमुच्चय" में केवल दो ही प्रमाण स्वीकार करते हैं—

प्रत्यक्षं अनुमानं च प्रमाणं, हि विलक्षणम्,
प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्।

जब कि न्यायदर्शन में चार प्रमाण माने गये हैं। उदयनाचार्य प्रभृति नैय्यायिकों ने दिङ्नाग की आलोचना कर चारों प्रमाणों की तर्क द्वारा सिद्धि की है।

बौद्ध नैय्यायिक ज्ञातविषयक ज्ञान की गणना प्रमाण की कोटि में नहीं करते एवं प्रमाण की "अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्" यह परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। जिसके खण्डन का प्रयत्न श्री उदयनाचार्य प्रभृति नैय्यायिकों ने ही किया है। बौद्ध आक्रामकों से श्री वाचस्पति मिश्र की "न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका" द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की रक्षा में उदयनाचार्य द्वारा "न्यायवार्तिक-तात्पर्यपरिशुद्धि" ग्रन्थ की रचना की गई। बौद्ध और नैय्यायिकों के मध्य ईश्वर की सत्ता के प्रश्न को लेकर जो विवाद खड़ा हुआ उसमें कल्याणरक्षित की "ईश्वरभङ्गकारिका" एवं श्री उदयनाचार्य की "न्यायकुसुमाञ्जलि" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बौद्ध नैय्यायिक कल्याणरक्षित ने अपनी रचना "ईश्वरभङ्गकारिका" में ईश्वर की सत्ता का सर्वथा निषेध किया है जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। इसी के उत्तर में श्री उदयनाचार्य ने ईश्वरसिद्धि के लिए 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की रचना की। न्याय परम्परा में बौद्धाचार्य एवं उदयन के मध्य हुए ईश्वरविषयक विवाद का बहुत ही रोचक वर्णन उपलब्ध होता है। मिथिलानरेश की राजसभा में हुए इस विवाद में बौद्धाचार्य बुरी तरह परास्त हुए एवं उदयनाचार्य को विजय प्राप्त हुई। उस परीक्षा में बौद्धाचार्य की आत्महत्या के पाप के भी वह भागी हुए। इस कारण जब वह जगन्नाथपुरी में जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए गए तो मन्दिर के द्वार बन्द हो गए। इस प्रकार वह जिस मन्दिर में भी जाते वहीं के द्वार बन्द हो जाते इस पर खिन्न होकर उन्होंने जगन्नाथ को उपालम्भ देते हुए कहा—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय तिष्ठसि।
समायाते पुनः बौद्धे मदधीना तव स्थितिः॥

वास्तव में श्री उदयनाचार्य की "न्यायकुसुमाञ्जलि" ईश्वरसिद्धिविषयक एक सफल प्रयत्न है। प्रकृत ग्रन्थ 'प्रमाण-प्रमोद' उदयनाचार्य की 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' की परम्परा में लिखा ऐसा ग्रन्थ है जो नव्यन्याय की प्रणाली से एकमात्र ईश्वरसिद्धि को अपनी विवेचना का विषय बनाता है। इस ग्रन्थ का मङ्गालाचरण ईश्वरस्मरण के साथ अपना स्वतन्त्र काव्य-सौष्ठव भी रखता है। आलंकारिक भाषा में मूलग्रन्थ के लेखक ने उपनिषद् को मुग्धा नायिका एवं ईश्वर को चतुर नायक के रूप में प्रस्तुत कर अपनी साहित्यमर्मज्ञता का परिचय दिया है। शाब्दबोध के कारण आंकाक्षा आदि ज्ञानों का समावेश बड़ी कुशलता से मुग्धानायिका एवं उपनिषद् के लिए विशेषण रूप में किया गया है। "व्यंजना" वृत्ति का विलास भी दर्शनीय है। जिस प्रकार मुग्धा नायिका के सान्निध्य में नायक इतना प्रसन्न होता है कि उस समय यदि उससे कुछ भी याचना की जाय तो वह व्यर्थ नहीं जाती इसी प्रकार इश्वरोपपादक उपनिषद् सहित ईश्वर से प्रार्थना करने पर अभीष्टसिद्धि अवश्य होगी यही इस मङ्गलाचरण का रमणीय अभिप्राय है।

प्रकृत ग्रन्थ के विषयवस्तु का समारम्भ "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इस उपनिषद् वाक्य के विश्लेषण से होता है क्योंकि श्रुति पद का अर्थ ग्रन्थकार ने प्रमाणवाक्यमात्र रखा है। जो श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादिगत ईश्वरप्रतिपादक वाक्य को लक्ष्य करता है।

"श्रोतव्यो मन्तव्य निदिध्यासितव्यः" इस वाक्य में श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि में परस्पर संगति दिखाई गई है। अनन्तर लेखक श्रुतिवाक्यजन्यश्रवण की ही मननाङ्गता स्वीकार करता है। उदयनाचार्य के "श्रुतो हि भगवान्बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिभ्य इदानीं मन्तव्यो भवति" इस वाक्य के विरोध का परिहार ग्रन्थकार ने स्मृत्यादिग्रहण को संवादार्थ बताकर किया है। "वेदवाक्यादेव श्रवणं मननाङ्गमिति श्रवणानन्तर मननम्" यह ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा है।

मनन को अनुमानात्मक, अनुमान को हेतुसाध्य मानकर उदयनाचार्य की "कार्यायोजनधृत्यादे:…………" कारिका के आधार पर कार्यत्वादि नवहेतु से ईश्वरसाधक नवानुमान का प्रतिपादन ही वर्तमान ग्रन्थकार का एकमात्र उद्देश्य है। प्रत्येक अनुमान को प्रस्तुत करते समय विरोधी पक्षों से आई हुई विप्रतिपत्तियों का उपपादन करते हुए उनका विशद रूप से समाधान भी किया गया है।

प्रकृत ग्रन्थ में प्रतिपादित ईश्वरसाधक नवानुमान का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. जन्यकृत्यजन्यो जन्योभावः, स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञान-
चिकीर्षाकृतिजन्यो, जन्यभावत्वात् (कार्यत्वात्)।

अर्थात् यह सृष्टि जन्यकृति से अजन्य होते हुए भी अपने उपादान विषयक अपरोक्षज्ञान चिकीर्षा और कृति से जन्य है क्योंकि यह सृष्टि जन्यभाव (कार्य) है। कारण यह है यह सृष्टि साधारण पुरुष का कार्य न होकर भी कार्य होने से पुरुष विशेष का ही कार्य हो सकती है। और वह पुरुष ईश्वर ही है।

२. सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकजनकारम्भकसंयोगजनकं
कर्म प्रयत्नजन्यं, कर्मत्वात् चेष्टावत्।

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति, द्व्यणुक से त्रसरेणु, त्रसरेणुओं से चतुरणुक इस क्रम से सृष्टि का निर्माण मानना पड़ता है, इसमें जड़ परमाणुओं में संयोग उत्पन्न करने के लिये एक चेतन पदार्थ की अपेक्षा होती है। उस समय कोई भी चेतन पदार्थ विद्यमान नहीं होता अतः चेतन तत्त्व ईश्वर की कल्पना वहाँ की जाती है।

३. क्षितौ पतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयोज्यः
गुरुवृत्तिपतनाभावत्वात्, घटादिवृत्तिपतनाभाववत्।

अर्थात् गुरू होते हुए भी पृथ्वी का पतनाभाव पतन प्रतिबन्धक के रहने से होता है, उस पतन का प्रतिबन्धक ईश्वर से अन्य कोई नहीं हो सकता।

४. जन्यकृत्यजन्यो नाशः, अदृष्टमद्वारीकृत्य प्रयत्नप्रयोज्यः
नाशत्वात् मुद्गरप्रहारप्रयोज्यघटनाशवत्।

सृष्टि का नाश साधारण मनुष्य की कृति से जन्य नहीं है और नाश प्रयत्न से ही सम्भव है अतः उस प्रयत्न का प्रयोजक ईश्वर ही है अन्य कोई नहीं ।

५. सामान्यतो वाग्व्यवहारो लिप्यादिव्यवहारो वा स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तः, व्यवहारत्वात् चैत्रबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तापूर्वव्यवहारवत् ।

अर्थात् लिपि या वाणी का व्यवहार स्वतन्त्र पुरुष से प्रयोज्य है, व्यवहार रूप होने से । सृष्टि के आदि काल में लिपि आदि कला की शिक्षा देने वाला कोई मनुष्य नहीं था अतः उस व्यवहार का प्रवर्तक ईश्वर ही हो सकता है ।

६. सर्गाद्यकालीनवेदवाक्यजन्या शाब्दप्रमा वक्तृवाक्यार्थयथार्थ-ज्ञानजन्या, शाब्दप्रमात्वात् ।

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में रचित जो प्रामाणिक वेदज्ञान है वह प्रामाणिक रचयिता (ईश्वर) द्वारा ही रचित हो सकता है । सर्ग के आदि में किसी मनुष्य की स्थिति सम्भव नहीं है और न ही उसका ज्ञान इतना प्रामाणिक हो सकता है । वेद के यथार्थ ज्ञान होने से ।

७. वेदाः पौरुषेयाः वेदत्वात् । यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः ॥

अर्थात् वेद पौरुषेय है (अर्थात् विशेष पुरुष ईश्वर से साध्य है) वेद होने से । जो पौरूषेय नहीं है वह वेद भी नहीं है जैसे घट ।

८. वेदाः पुरुषोच्चरिताः वाक्यत्वात्, चैत्राद्युच्चरितवाक्यवत् ।

यह पूर्ववत् है केवल हेतु भिन्न है अर्थात् वाक्य होने से वेद पौरूषेय हैं ।

९. द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति, जन्यपरिमाणत्वात् ।

अर्थात् द्व्यणुक परिमाण संख्याजन्य है, परिमाण और प्रचय से जन्य न होने पर भी, जन्य परिमाण होने के कारण । तात्पर्य यह है कि सृष्टि के आदि काल में एक ईश्वर ही ऐसा है जिसकी अपेक्षा बुद्धि से संख्या के द्वारा दो परमाणुओं के सम्मिलन से द्व्यणुक होता है और फिर तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक बनता है और इस प्रकार क्रमशः सृष्टि का निर्माण होता है । अतः ईश्वर को मानना अनिवार्य है । उसकी स्थिति के बिना इस जगत का कोई आधार नहीं मिलता ।

इस प्रकार मुख्य रूप से इन नव युक्तियों के आधार पर प्रमाण-प्रमोद में ईश्वरसिद्धि का प्रयास किया गया है ।

(ङ) 'प्रमाणप्रमोद' की व्याख्या एवं व्याख्याकार

प्रस्तुत पुस्तक में हमने 'प्रमाणप्रमोद' की महामहोपाध्यय दुःखमोचन झा कृत व्याख्या दी है। वस्तुतः उल्लेखनीय बात यह है कि इसकी यही एकमात्र टीका उपलब्ध ही है। प्रसंगवश यह चर्चा पहले की जा चुकी है लि मूल 'प्रमाण प्रमोद' की केवल दो पाण्डुलिपियाँ हमें मिली हैं। एक प्रति मैथिली लिपि में और दूसरी देवनागरी में। यद्यपि मूलपाठ के संशोधन में हमने मैथिली प्रति से भी सहायता ली है तथापि अपने प्रस्तुत संस्करण के मूलपाठ का आधार हमने देवनागरी प्रति को ही माना हैं ; कारण, म० म० दुःखमोचन झा कृत व्याख्या इसी मूल की अन्तिम कारिका से थोड़ा ही पूर्व समाप्त हो जाती है। मैथिली लिपि वाली प्रति में मूल-पाठ लगभग चार पृष्ठ और अधिक दिया गया है

जैसा कि हमने अभी कहा, 'प्रमाण-प्रमोद' की देवनागरी में जो प्रति प्राप्त है उस से भी म० म० झा जी की व्याख्या कुछ पूर्व ही समाप्त हो जाती है। लेकिन इन प्रति की अन्तिम कारिका में :—

'प्रमाणान्वेषिणामेष धीराणां धैर्यवर्धनः,
स्यात्प्रमाणप्रमोदोऽयं मोदेन हरिणेक्षितः।'
इति प्रमाणप्रमोदः समाप्तः ॥

लिखा है। इसलिए अनुमान यह भी किया जा सकता हैं कि महामहोपाध्यय जी इसी प्रति को सही मानते थे और प्रचलित प्रथानुसार दी जाने वाली पुष्पिका इत्यादि अन्तिम भाग जो व्याख्या का उपलब्ध नहीं होता वह या तो कालवश नष्ट हो गया—या फिर झा जी ने इसे जीवन के अन्तिम चरण में लिखा—और तत्त्व-निरूपण की दृष्टि समाप्तप्राय होकर भी वह व्याख्या पूर्ण न हो सकी।

व्याख्याकार म० म० दुःखमोचन झा—जिन्हें अधिकतर लोग श्री बबुआ के नाम से जानते हैं—मिथिला के उद्भट एवं विख्यात दार्शनिकों के कुल में उत्पन्न हुए। इनके पूज्य पिता श्री बबुजन झा प्रसिद्ध नैयायिक थे एवं काश्मीर नरेश रणवीर सिंह के विद्यालय में पण्डित थे और पितामह श्री नैनन

झा अपने समय के प्रसिद्धतम नैयायिक थे। इसी कुल में म० म० चुम्बे झा, प० कुञ्जन झा, पं० चन्द्रानन, पं० नित्यानन्द झा, पं० त्रिलोचन झा इत्यादि और भी अनेक नैयायिक, तर्कशास्त्री एवं वैयाकरणाचार्य हुए।

म० म० श्री दुःखमोचन झा ने आरम्भ में न्यायशास्त्र की शिक्षा अपने पूज्य पिता श्री बबुजन झा से प्राप्त की। जब ये सैंतीस वर्ष के थे तभी पिता की मृत्यु हो जाने से इनके क्रोड़पत्र का अध्ययन अधूरा रह गया। इस पर बङ्गदेश के महामहोपाध्याय श्री हरिनाथ तर्कवागीश से इन्होंने वह शेषांश पढ़ा और नव्यन्याय के विवेचनाभाग का छः मास तक गम्भीर अध्ययन किया।

इसके अतिरिक्त एक अन्यतम विशेषता इनके परिवार की यह भी रही कि पिलखवार ग्राम में, जहाँ के ये मूल निवासी थे, इनकी ओर से एक संस्कृत-पाठशाला चलती थी और दूर-दूर से आए हुए अनेक छात्रों को वहाँ निःशुल्क विद्यादान दिया जाता था। इन छात्रों के भोजनवासादि की व्यवस्था भी ये ही महानुभाव करते थे। इस तरह उदारता और उपकार में भी आपका परिवार सुप्रसिद्ध था।

व्याख्याकार म० म० दुःखमोचन झा विरंचित अन्य ग्रन्थों के अनुशीलन से तथा स्वयं 'प्रमाणप्रमोद' की व्याख्या से उनके अगाध ज्ञान और रसबोध की स्पष्ट झलक मिलती है। प्रमाण-प्रमोद के विषय-वस्तु की व्याख्या नव्यन्याय शैली से करते हुए उन्होंने अनेक न्यायों का प्रयोग किया है। जहाँ-जहाँ अपेक्षित है, वहाँ-वहाँ एक ही शब्द को लेकर व्याख्याकार ने उसके वाञ्छित अभिप्राय को पाठक के लिए सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। 'न चैकत्त्वान्यसंख्यात्त्वावच्छिन्नं प्रति' इत्यादि मूल की व्याख्या में द्वित्वोत्पत्ति विचार इत्यादि स्थल उदाहरणीय हैं। मूल-ग्रन्थ में अनेक ऐसी आपत्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं जिनके मत-वाद का वहाँ उल्लेख नहीं। लेकिन व्याख्याकार ने यदा-कदा शंका के साथ उस मत के प्रतिपादक का भी उल्लेख किया है।

(च) पाण्डुलिपि-विवरण

१. मूल 'प्रमाण-प्रमोद' की पाण्डुलिपि (ख) पण्डित निरसन सार्वजनिक पुस्तकालय, हरिनगर के सौजन्य से प्राप्त हुई। यह प्रति मैथली लिपि में है।

२. म० म० दुःखमोचन झा कृत व्याख्या की पाण्डुलिपि उनके प्रपौत्र पं० श्री वैद्यनाथ झा, सी–३४ हिनु, राँची के सौजन्य से प्राप्त हुई।

३. मूल प्रमाण-प्रमोद की पाण्डुलिपि (क) इस व्याख्या के साथ संलग्न थी। प्रस्तुत पुस्तक का आधार यही प्रति है–लेकिन इस प्रति में यत्र-तत्र अशुद्ध पाठ था––जिसका संशोधन मैथिली लिपि वाली प्रति की सहायता से किया गया है। यह पाण्डु लिपि देवनागरी लिपि में है।

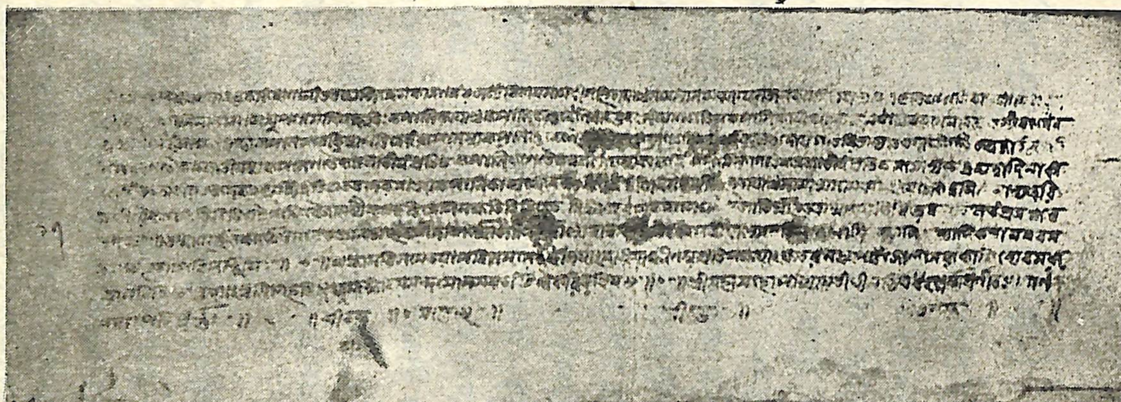
आकार-प्रकार

१. मूल की पाण्डुलिपि (क) का आकार ११″×४″ है। इस प्रति में भोजपत्र पर दोनों ओर ३१ (६२) पृष्ठ लिखे गए हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ से ८ तक पंक्ति में ४०–५० अक्षर हैं। यह प्रति देवनागरी लिपि में है।

इस पाण्डुलिपि के लिपिकार सुन्दरानन्द नामक कोई विद्वान् हैं। जैसा कि परिसमापन की पंक्तिः––'लिखितं सुन्दरानन्देन विदुषेति शुभम्' से ज्ञात होता है।

२. मूल की पाण्डुलिपि (ख) साधारण देसी कागज पर दोनों ओर लिखी गई है। इसमें कुल १७ (३४) पृष्ठ हैं। आकार ११″×४″ इसका भी है। यह बहुत ही सुन्दर और छोटे-छोटे अक्षरों में मिथिला लिपि में लिखी हुई है। प्रत्येक पृष्ठ पर १६ से १८ तक पंक्तियाँ है और हर पंक्ति में ६०–६५ अक्षर। इसके लिपिकार पं० लोकनाथ झा हैं।

३. व्याख्या की पाण्डुलिपि का आकार १३″×४½″ है। ७ से १० तक पंक्तियाँ प्रति पृष्ठ पर है और हर पंक्ति में ४५–५५ अक्षर। कुल ६६ पृष्ठ दोनों ओर से लिखे गए हैं––लिपि मैथिली है। कागज़ साधारण पीला देसी लगाया गया है।



मूल पाण्डुलिपि (ख) की पुष्पिका

परिशिष्टम् (ग्रन्थमूलांशः)

यस्तु स्वभाववादी स्वभावादेव कार्यनियमनं कस्यापि किमपि कारणमित्याह। स तावदिदं पृष्टो व्याचष्टाम्। कार्यस्य स्वभावः कार्यनियामक इत्यस्य कोऽर्थः ? यदि कार्यस्य स्वभावो घटत्वादिः कार्यजनक इत्यर्थोऽभिमतः तदाभ्युपगता कारणता। न च घटत्वादेः कारणता घटादौ संभवति तया स्वीकृतयापि कालदेशानियमनात् घटत्वादेः समवायेन कपालादावसत्त्वात्। कालिकादिना तन्त्वादावपि सत्त्वात् नित्यतया सर्वकाले सत्त्वात्। यदि च कार्यस्य तद्देशकालोत्पत्तिकत्वमन्यदेशकालानुत्पत्तिकत्वञ्च न कस्यापि प्रयोज्यम् इति स्वभाववादार्थः तदा केन प्रमाणेन तदुभयं सिद्धमिति ब्रूयाः ? प्रत्यक्षेणेति चेत् यद्यसि प्रमाणपक्षपाती तदा प्रत्यक्षसिद्धां कारणतां कथमुपेक्षसे अन्वयव्यतिरेकसचिवाध्यक्षेण घटादिकार्ये दण्डादेः कारणता गृहीता तथा लाघवज्ञानादेः कार्यकारणभावग्रहजनने प्रमाणसहकारितेति कथं त्यक्तुं शक्यते। अदृष्टकार्ये च यथा नियतदेशकालत्वं साधयस्यनुमानेन तथा दृष्टकार्यदृष्टान्तेन तत्र सहेतुकत्वमनुमानेन साधय। प्रमाणाननुरोधे च घटादिप्रपञ्चमपि त्यजेति भव निरीहः, तस्माद्विरम नास्तिकतापरिग्रहादनुभव आकेशलुञ्चनव्यथमिति दिक्।

अथेश्वरज्ञानस्यैकस्यैव सकलकार्यकारित्वे प्रमाणविलोपः प्रमितेः सव्यापारककारणस्यैव प्रमाणत्वात् तस्य त्वयानङ्गीकारात् तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वस्य व्यापारत्वात् ईश्वरज्ञानातिरिक्तस्याजनकत्वे तदसम्भवात्। लुप्ते च प्रमाणे कथमनुमानेन भागवतं ज्ञानं साधयसि व्याहतश्च ते न्यायप्रयोगः। यथा सर्वमसदित्यादिका प्रतिज्ञा न सम्भवति प्रतिज्ञाजनकेन प्रतिज्ञादेः सत्त्वावगाहितेष्टसाधनताज्ञानेन प्रतिज्ञातात्पर्यविषयीभूतार्थस्य सर्वसत्त्वस्य वाधादुपजीव्यविरोधात् तदिदमुक्तमाचार्यैः। स्वविषवेगमूर्च्छिता

भुजङ्गी स्वात्मानं निर्दिशतीति तथानुमित्यादिकार्यं सकारणकं कार्यत्वादीत्यादिन्यायप्रयोगोऽपि नानाकारणकत्वे गौरवस्य एककारणकत्वे लाघवस्य प्रतिसन्धानसहकारादेककारणकत्वानुमितिजननस्य तात्पर्येण प्रयुक्तो व्याहत एवन्यायस्य तात्पर्यविषयीभूतस्यानुमित्यादेरेकभागवतज्ञानकारणकत्वस्य न्यायजनकेनानुमितिजनकपरामर्शजनकत्वज्ञानेनेष्टसाधनताज्ञानपर्यवसितेन वाधात्। चक्षुरादिकल्पना च न स्यात् भागवतज्ञानेनैव चाक्षुषादिनिर्वाहात्। तदुक्तं कुर्वद्रूपत्वनिराकरणावसर आचार्यैरतीन्द्रियेन्द्रियादिविलोपप्रसङ्गादिति चेत्। अत्रोच्यते धूमपरामर्शादीनां तावदन्वयव्यतिरेकसिद्धं कारणत्वम्, तच्च प्रत्यक्षत्वात् दुरपह्नवम्। तच्च ज्ञानत्वेनैव स्वीकर्त्तव्यं न तु धूमपरामर्शत्वादिना व्यभिचारात्। अव्यवहितोत्तरत्वादेरतीन्द्रियघटितत्वेनायोग्यतया तेन रूपेण प्रत्यक्षासिद्धतयाऽनुभवविरोधाभावात्। इत्थञ्च न प्रयोगविलोपः ज्ञानत्वेनैवानुमिति जनकस्य मरामर्शस्य जनकतयाविशेषणज्ञानस्य मनस आत्मन एव वाऽनुमितिकरणत्वात् प्रमितिवैजात्यस्यैव प्रमाणविभागप्रयोजकत्वेन कारणभेदस्यातन्त्रत्वात् इत्यादेरन्यत्र प्रपञ्चितत्वात्। न च सकलधूमादिपरामर्शविरहेऽपि जन्यमात्रादेव बह्न्यनुमितिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। चैत्रादेस्तदानीन्तनवह्न्यनुमितिसत्त्वेनेश्वरवीक्षितत्वाभावेन निरुक्तसम्बन्धेनेश्वरसाक्षात्काराभावात्। अथ यदि वीक्षेत तथा स्वतन्त्रस्तदा स्यादनुमितिरिति चेत्, स्यादेव वा सन्देहः किन्नेतिहासमश्रौषीदायुष्मद्भिरत्रेदं गीयते विना तन्तुमन्तरेण तुरीं तिरस्कृत्य च वेमानं कृष्णायाः पट घटयामास सतृष्णः कृष्ण इति यस्तुव्याघात उक्तस्तत्रापि बह्न्यनुमितेरेककारणकत्वं हि एकाभावप्रयोज्यस्वाभावाधिकरणताकत्वम्। तथा च धूमादिपरामर्शविरहिण्यात्मनि पर्वतोद्देश्यकबह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नाभावाधिकरणता किञ्चित्कारणाभावप्रयोज्या कारणतावच्छेदकधर्म्मावच्छिन्नाभावाधिकरणतात्वादित्यनुमाने क्रियमाणे क्लृप्तस्य सिद्ध्यभाववाधाभावादेः कारणस्याभाववाधादनेकधूमादिपरामर्शाभावप्रयोज्यत्वे गौरवस्यैकाभावप्रयोज्यत्वे लाघवस्य प्रतिसन्धानादेकाभावप्रयोज्यत्वसिद्धिः, तस्य च

प्रयोजकाभावस्य प्रतियोगिता लाघवादुभयावृत्तिधर्मावच्छिन्ना सिद्धयति, तत्प्रतियोगितायां सम्बन्धावच्छिन्नत्वानुमाने सम्बन्धान्तरबाधान्निरुक्तः सम्बन्धोऽवच्छेदकः सिद्धयति। एवञ्च न्यायजनकज्ञानेन सह न्यायप्रयोज्यानुमितेर्न विरोधलेशः। एवं चक्षुरादिविलोपोऽपि न संभावनीयः, तथा हि चक्षुरुन्मीलनादेश्चाक्षुषेण कारणत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् दुरपह्नवम्। अन्वयव्यतिरेकसचिवाध्यक्षेण कारणत्वं सिद्धयति. तस्य चात्रापि सम्भवात्, चक्षुर्गोलकोन्मीलनात् पूर्वं चाक्षुषानुत्पत्तेरुत्तरकाले चोत्पत्तेश्चक्षुर्गोलकोन्मीलनस्य च कर्मरूपस्य क्षणचतुष्टयावस्थायिनो व्यधिकरणस्य न चिरकालोत्पन्नघटादिचाक्षुषजनकत्वं साक्षादतो व्यापारद्वारा तद्वाच्यम्, व्यापारश्च घटनिष्ठः कल्प्यमानः परिशेषात् संयोगरूप एव पर्यवस्यति। तथा हि घटनिष्ठश्चक्षुरुन्मीलनप्रयोज्यो व्यापारो न द्रव्यरूपः कतिपयगुणकल्पनागौरवात्। नापि रूपरसगन्धस्पर्शरूपः, आश्रये सत्यपि पाकं विनापि विनाशित्वात्। नापि संख्यारूपः, आश्रये सत्यपि विनाशित्वादपेक्षाबुद्धिं विना जायमानत्वाच्च। नापि परिमाणरूपः, पूर्वोक्तप्रथमहेतोः। नापि पृथक्त्वपरापरत्वरूपः, अवधिज्ञाननिरपेक्षत्वात्। नापि बुद्धयादिरूपः, आत्माकाशान्यतरसमवेतत्वात्। नापि गुरुत्वरूपः, आश्रये सत्यपि विनाशित्वात्। नापि संस्काररूपः, भावनात्वस्यात्मभिन्नसमवेतत्वेनैव निरासात्। वेगस्थितिस्थापकान्यत्वस्य कर्मजन्यत्वेनैवानुमानात्। नापि विभागरूपः, तस्य संयोगपूर्वकत्वेन गुरुत्वादित्यतिरिक्तसंयोगरूपो व्यापारः सिद्धयति। तस्य संयोगरूपतया विनष्टत्वेन घटादिभिन्न आश्रयः प्रतियोगी सिद्ध्यति। स च नैन्द्रियकोऽनुपलम्भात्। नाप्यतीन्द्रियक्लृप्तवाय्वादिपरमाणुरूपो विनिगमनाविरहादतः क्लृप्तोऽतिरिक्त एव सः। तैजसत्वञ्च तत्र चाक्षुषत्वजनकसंयोगप्रतियोगित्वेनालोकवत् साधनीयम्। शेषमाकरेऽनुसन्धेयम्।

ननु चक्षुरुन्मीलनस्य कर्मात्मनः कथङ्कारं परम्परयाऽपि चाक्षुषकारणता, चक्षुर्गोलकारणचर्मरूपस्य च चक्षुरुन्मीलनस्य च चक्षुर्घटसंयोगाजनकत्वादिति चेन्न, गोलकान्निस्सरणे गोलकविभागजनककर्मस्वरूप एवोन्मी-

लनस्योपयोगात्। तथाहि गोलकनिस्सरणात्मके चक्षुरिन्द्रियकर्मणि गोलकाग्रभाग आवरणचर्मसंयोगः प्रतिबन्धकस्तत्सत्त्वे निस्सरणाभावात्, तस्य च संयोगो विना गोलकावरणचर्मणा विभागद्वारा क्रियत इति भवति प्रतिबन्धकापसारणद्वारा चक्षुर्निस्सरणप्रयोजकमुन्मीलनम्, चक्षुर्निःसरणस्य च विषयसंयोगजनकत्वं तस्य च चाक्षुषजनकत्वमिति भवति परम्परया चाक्षुषजनकमुन्मीलनम्। एवमिन्द्रियान्तरमपि साधनीयमिति दिक्।

नन्वेवं धूमादिपरामर्शाणामपि कारणत्वमन्वयव्यतिरेकसचिवाध्यक्षगम्यत्वाद् दुरपह्नवम्, यदि च पर्वतोद्देश्यकवह्न्यनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति धूमपरामर्शादिना कारणता न संभवति व्यभिचारात्तदा स्वविशिष्टानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति तत्तद्धेतुपरामर्शत्वेन कारणतास्तु, ज्ञानत्वेन कारणतायास्तस्या अवच्छेत्तुमशक्यत्वात्, अन्वयव्यतिरेकसचिवाध्यक्षेण पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिनिष्ठधर्मावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वरूपं नियतपूर्ववर्त्तित्वं पर्वतोद्देश्यकवह्न्यनुमित्यभावाधिकरणताप्रयोजकाधिकरणताप्रयोज्यभावप्रतियोगित्वरूपमनन्यसिद्धत्वं गृह्यते, कार्यकारणतावच्छेदकपरिच्छेदश्चोत्तरकालिकः। इत्थञ्च वह्निविधेयकपर्वतोद्देश्यकानुमित्यभावाधिकरणताप्रयोजकाधिकरणताप्रयोज्यभावप्रतियोगित्वस्य प्रत्यक्षगृहीतस्य नावच्छेदकं ज्ञानत्वम्, घटादिज्ञानकाले ज्ञानत्वावच्छिन्नाभावासत्त्वे तदुत्तरकाले दर्शितानुमित्यभावस्यासत्त्वप्रसङ्गात्। परिशेषाद् धूमपरामर्शत्वादिना कारणत्वघटकनिरुक्तानन्यथासिद्धत्वस्यावच्छेद्यत्वे नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वमपि धूमपरामर्शत्वस्य कल्प्यमेव, अनन्यथासिद्ध्यवच्छेदकस्य नियतपूर्ववर्तितावच्छेदकत्वनियमात्, इत्थञ्च धूमपरामर्शत्वाद्यवच्छिन्ननियतपूर्ववर्तित्वनिरूपकतावच्छेदकत्वं पर्वतोद्देश्यकवह्न्यनुमितित्वस्य न सम्भवति व्यभिचारादित्यगत्या धूमादिपरामर्शविशिष्टदर्शितानुमितित्वमेव धूमादिपरामर्शत्वावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तितानिरूपकतावच्छेदकम्, ततश्च सिद्धा धूमादिपरामर्शविशिष्टपर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति धूमादिपरामर्शत्वेन कारणता।

यद्वा यत्र वैकल्पिकानि बहूनि कारणानि तत्र नियतपूर्ववर्त्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वमन्यथैव निर्वाच्यम्। तथा हि—पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नस्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेनालोकपरामर्शाभावकूटविशिष्टेऽधिकरणे विद्यमानस्याभावस्य प्रतियोगितावच्छेदकं यद्धूमपरामर्शत्वं तद्वत्त्वमेव पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तितावच्छेदकधर्मत्वम्। एवम् आलोकपरामर्शस्यापि स्वेतरधूमपरामर्शाभावकूटं निवेश्यं नियतपूर्ववर्त्तितावच्छेदकधर्मवत्त्वं निर्वक्तव्यम्, निर्वक्तव्यानि च तृणारणिमणीनां कारणत्वानि। एवञ्च प्रत्यक्षसिद्धकारणानां दुरुपपह्नवतया तैरेव सकलकार्यनियमोपपत्तौ कृतमीश्वरज्ञानकारणतया। किञ्च, नियतपूर्ववर्त्तित्वादिघटितेन तत्पर्यवसितेन वा सम्बन्धेन नेश्वरज्ञानादेः कारणतावच्छेदकत्वम्, तत्सम्बन्धस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा कारणतान्तरविलोपप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्, अतीन्द्रियसंस्कारादिकार्यं प्रत्यनुभवादे कारणतायाः प्रत्यक्षप्रमाणगोचरतयानुमानवेद्यत्वात्, तत्र तत्तदुपेक्षाभिन्नानुभवत्वादेः कारणतावच्छेदकत्वे गौरवप्रतिसन्धानान्निरुक्तसम्बन्धेनेश्वरज्ञानत्वेनानुभवानां कारणतासिद्धेरपरिहार्यत्वात्, विषयभेदेन संस्कारानुभवयोरपि कार्यकारणभावस्यानुमितिस्थलोक्तरीत्या वक्तव्यत्वात्। यदि च विषयभेदेन कार्यकारणभावकल्पने गौरवाद् विषयतावृत्तिनिरूपकतया संस्कारानुभवयोः कार्यकारणभाव इति विभाव्यते, तदा विषयानिवेश्यानुमितिस्थलोक्तविषयभेदानियन्त्रितकार्यकारणभाव इव संस्कारानुभवयोः कार्यकारणभाव ऊहनीयः। उपेक्षाणां संशयानाञ्च प्रतिबन्धकत्वाकल्पनेन लाघवासंभवात्, नियतपूर्ववर्तित्वादिघटितस्य तत्पर्यवसितस्य वा सम्बन्धस्यान्यथासिद्धिनिरूपकतावच्छेदकत्वाभ्युपगमस्य निर्बीजत्वात्, कारणान्तरविलोपस्य प्रत्यक्षसिद्धकारणानां दुरपह्नवतयैव निरस्तत्वात्। दीधितिकृता तु कार्याव्यवहितपूर्वत्वादेः कारणतावच्छेदकस्याऽन्योन्याश्रयभ्रमेण निरस्तत्वाद् भगवज्ज्ञानीयविषयतावच्छेदकतया कार्याव्यवहितपूर्वत्वादेः कारणतावच्छेदकत्वप्रवेशोऽन्योन्याश्रयाभावात्, निपुणञ्चात्र स्वधिया विभाव्यमिति दिक्।

किञ्च, तत्तत्कार्याणां कालव्यत्यासवारणार्थं तत्तल्लवानां तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वमवश्यं त्वया वाच्यम्, तत्र च समानकालीनानां लवानां विनिगमनाविरहात् तत्त्वतत्त्वेन कारणताया आनन्त्येन गौरवाल्लाघवेन तत्तत्कार्यव्यक्तिं प्रति कालिकसम्बन्धेन तत्तत्कार्यव्यक्तिवृत्तिकालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानव्यक्तेः कारणत्वस्य कल्पयितुमुचितत्वात्, कारणत्वेन सिद्धायां भगवज्ज्ञानव्यक्तौ विनिगमनाविरहाभावेन कारणतानन्त्याप्रसक्तेः। न च तत्तत्कार्यव्यक्तेः स्वसमानकालोत्पन्नकर्मादावपि कालिकसम्बन्धेनोत्पत्तेस्तत्र च प्राक्क्षणावच्छेदेन भगवज्ज्ञानाभावादिति कथं कारणेन कार्यनियमनमिति वाच्यम्, स्वप्रागभावाधिकरणतादात्म्यकालिकविशेषणताभ्यां तत्तत्कार्यं प्रति तदुभयसम्बन्धावच्छिन्नतत्तत्कार्यव्यक्तिवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानव्यक्तेः कारणत्वाभ्युपगमात्। स्वसमानकालोत्पन्नकर्मादौ च नोभयसम्बन्धेन कार्यमिति तत्र प्रागीश्वरज्ञानव्यक्तेरसत्त्वेऽपि न क्षतिः। न च केवलकालिकेन भविष्यतोऽपि कार्यस्य भूतकाल आपत्तिरिति वाच्यम्, यत्कार्यं क्वचित् कालिकेन जायते तदवश्यं दर्शितोभयसम्बन्धेन क्वचित् काले जायत एवेति व्यापकोत्पत्तिप्रयोजकाभावेन व्यापकोत्पत्त्यभावे सिद्धे तत एव व्याप्योत्पत्तेरभावस्य साधनीयत्वात्। न च तत्तत्कालकलानामन्वयव्यतिरेकेण कारणत्वं प्रत्यक्षतः सिद्धं दुष्परिहरमिति वाच्यम्, अतीन्द्रियकार्ये तथाप्यप्रतीकारात्। ऐन्द्रियकेऽपि कार्ये तत्तत्कालकारणतानां तत्तद्व्यक्तित्वं नावच्छेदकं विनिगमनाविरहादानन्त्यापत्तेः, अपि तु ईश्वरज्ञानव्यक्तेरेव निरुक्तविशेष्यतासम्बन्धेनावच्छेदकत्वम्, कारणतावच्छेदकतया सिद्धायां भगवज्ज्ञानव्यक्तौ विनिगमनाविरहाभावादानन्त्याप्रसक्तेः। एकस्या एव भगवज्ज्ञानव्यक्तेः सर्वत्र कार्ये कारणतावच्छेदकत्वमित्यपि महल्लाघवम्, तत्तल्लवनिष्ठतत्तानां कारणतावच्छेदकत्वे तु नैकत्र सर्वत्र कार्ये कारणतावच्छेदकमिति गौरवम्। प्रागभावकारणतया तु न कालव्यत्यासवारणमिति व्यक्तमेवेति न प्रागभावस्यैककारणतामङ्गीकृत्य सामग्रीव्याप्त्या कार्यनियमनसंभावना। एवञ्च सकलकार्ये भगवज्ज्ञान-

कारणतायां सिद्धायां क्षित्यादिकं पक्षयित्वा कार्यत्वेन भगवज्ज्ञानानुमानमप्यविकलं कार्यत्वस्य ज्ञानजन्यत्वस्य व्याप्यत्वात्। ज्ञानवदिच्छाया अपि विनिगमनाविरहेण सकलकार्यकारणत्वादिच्छापि भगवतः सिद्धयति। न चैवं कृत्यसिद्धिः, कालस्य कार्यानुपादानतया तदुपादानकृतेर्लोकसिद्धतया कृतिसम्बन्धस्यापि प्रतिव्यक्तिभिन्नस्य कल्पनीयत्वेऽतिगौरवादिति वाच्यम्, क्षित्यादौ पतनाभावाधारकप्रयत्नानुमानात् तत्सिद्धेः। न च क्षितिगोलस्य तदेकत्ववृत्तिवैजात्येन परम्परासम्बन्धेन पतनप्रतिबन्धकमिति प्रागुक्तं युक्तम्, क्षितिगोलगतैकत्वगतजातेर्जन्यमात्रवृत्तितयावश्यकस्य चिज्जन्यतावच्छेदकत्वमङ्गीकर्तव्यम्। तत्र विजातीयैकत्वं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वेनैकत्वमात्रं कारणं तदा घटादावपि तदापत्तेः पतनाभावप्रसङ्गात्। यदि च क्षितिगोलावयवगतैकत्वजात्या क्षितिगोलगतैकत्वजातीयं प्रति कारणता तदा क्षितिगोलावयवगतैकत्वजातीयं प्रत्यपि क्षितिगोलावयवगतैकत्वजात्या कारणत्वमवश्यं मन्तव्यम्, अन्यथा तज्जातीयस्यानियम्यत्वापत्तेः। एवं क्षितिगोलावयवावयवगतैकत्वजात्या क्षितिगोलगतैकत्वजातीयं प्रति कारणता तदा क्षितिगोलावयवगतैकत्वजातीयं प्रत्यपि क्षितिगोलावयवगतैकत्वतदवयवगतैकत्वजात्या कारणत्वम्, उक्तयुक्तेः।

इत्थञ्च क्षितिगोलावयवाद्यवयवाभ्यामुत्खाताभ्यामारब्धद्रव्यान्तरस्य पतनाभावप्रसङ्गात्, विजातीयैकत्वस्य तत्रापि सत्त्वात्। यदि च क्षितिगोलगतविजातीयैकत्वं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वेनैकत्वमात्रं कारणम् क्षितिगोलगततत्तदेकत्वव्यक्तिं प्रति तत्तद्गोलव्यक्तेःकारणत्वम्, तत्तद्गोलघटितविशेषसामग्रीसहितैव च सामान्यसामग्री फलजनिकेति गोलादन्यत्र न विजातीयैकत्वापत्तिरिति विभाव्यते, तदा क्षितिगोलगतैकत्ववैजात्यस्य तदवच्छिन्नं प्रति तत्तद्गोलघटितानामनन्तानां सामग्रीणां प्रयोजकत्वस्य च कल्पनमपेक्ष्य भागवतप्रयत्नकल्पनस्यैव लघुत्वात्। एतेनैकत्ववृत्तिरेवघटत्वजातिरिति निरस्तम्, तथा हि घटगतैकत्वजातीयं प्रति कपालगतैकत्वजातीयस्य कार-

णत्वं कपालगतैकत्वजातीयं प्रति च कपालिकागतैकत्वजातीयस्य कारणत्वम्, एवं तत्तज्जातीयैकत्वं प्रति तत्तज्जातीयैकत्वाश्रयद्रव्यावयवगतैकत्वजातीयस्य कारणत्वम्। एवं मठादिस्थलेऽपि वक्तव्यम्, युक्तेस्तौल्यात्। एवञ्च कपालिकाद्यारम्भकचतुरणुकादिभिः कपालिकैवारभ्यते। परम्परयारब्धमठादौ वर्त्तमानैकत्वे घटत्वमठत्वरूपयोरेकत्ववृत्तिजात्योः समावेशेन सङ्करप्रसङ्गः। प्रसङ्गश्च घटेऽपि मठव्यवहारस्य, नहि कपालिकाद्यारम्भकचतुरणुकादिभिः कपालिकैवारभ्यते नान्यद्रव्यं प्रमाणाभावात्, कपालिकादित आकृष्टमृत्तिकया द्रव्यान्तरघटनस्य दृष्टत्वाच्च। ननु द्रव्यगतघटत्वजात्यभ्युपगमेऽप्येषो दोषः, तथा हि घटत्वावच्छिन्नं प्रति कपालत्वेन कपालत्वावच्छिन्नं प्रति च कपालिकात्वेन तदवच्छिन्नं प्रति तदवयववृत्तिवैजात्येन कारणत्वमेव मठत्वाद्यवच्छिन्नं प्रतीत्यपीति कपालिकाद्यारम्भकचतुरणुकादिभिः परम्परयारब्धे मठादौ घटत्वमठत्वयोः सङ्करप्रसङ्गः। न चाकृष्टकपालिकावयवेन मृत्तिकान्तरसंयोगात् कपालिकाविजातीयो मठावयवावयवश्चेति द्रव्यद्वयं जायत इति वाच्यम्, अनुपलम्भबाधितत्वात्। यदि च घटत्वावच्छिन्नं प्रति कपालत्वेन कपालत्वावच्छिन्नं प्रति कपालिकात्वेन वैजात्यविशेषेण कारणत्वम्, कपालिकात्वावच्छिन्नं प्रति च न कपालिकावयवानां वैजात्यविशेषेण कारणत्वम्, किन्तु कपालिकावयवानारम्भकसंयोगविशेषेषु वैजात्यमेकमङ्गीकृत्य तेन कारणत्वं तैश्च विजातीयैरारम्भकसंयोगैः कपालिकैव जन्यते नान्यद्रव्यमिति नोक्तदोषः। संयोगजन्यतावच्छेदकवैजात्यादिना सङ्करभयेनारम्भकसंयोगगतवैजात्यासत्त्वे तु तत्तत्कपालिकात्वावच्छिन्नं प्रति तत्तदारम्भकसंयोगानां तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वं वक्तव्यम्, विशेषसामग्रीसमवहितायाः सामान्यसामग्र्याः फलजनकत्वमिति जन्यमात्रवृत्तिकपालिकात्वजात्यवच्छिन्नं प्रति द्रव्यत्वादिना कारणत्वाभ्युपगमेऽपि न क्षतिः। कपालिकायाश्च कपालिकान्तरेणैवारम्भकः संयोग इति न कपालिकाया आकृष्टमठाद्यवयवेनारम्भकसंयोगेन जन्यमाने विलक्षणद्रव्यकपालत्वावच्छिन्नापत्तिरेवं कपालस्य कपालान्तरेणैवारम्भकसंयोग इति न पूर्वकथितदोष इति

विभाव्यते, तदा घटगतैकत्वजातीयं प्रति कपालगतैकत्वजातीयस्य कपालगतैकत्वजातीयं प्रति च कपालिकागतैकत्वजातीयस्य कारणत्वम्, कपालिकागतैकत्वजातीयं प्रति च सामान्यतो द्रव्यत्वादिना कारणत्वम्, तज्जातीयतत्तदेकत्वव्यक्ति प्रति च तत्तदेकत्वाश्रयकपालिकाव्यक्तेरेव कारणत्वम्, विशेषसामग्रीसहितायाश्च सामान्यसामग्र्याः प्रयोजकत्वमिति नान्यत्र विजातीयैकत्वापत्तिरिति घटत्वादिवैजात्यस्यैकत्ववृत्तित्वेऽपि न क्षतिरिति चेत्, सिद्ध्यत्वेवमेकत्वगतघटत्वादिजातिर्न हि तत्रास्माकमतिविद्वेष इति कृतं प्रसक्तानुप्रसक्त्या। तस्मात् सर्वत्र कार्ये भगवज्ज्ञानस्य हेतुत्वादाचार्योक्तानि सर्वाण्येवानुमानानि निरपवादान्येवेति नास्ति नास्तिकस्यापि कस्यापि कथायामवसर इति हताः परिपन्थिनः।

पक्षासत्तिसमेतया परिलसत्संवादयाऽबाधया
क्षीणस्वप्रतिपक्षयाऽक्षणरणद्रूपव्रजोल्लासया ।
कामिन्येव सराधया परिचितो भूयोऽनुमित्या हरिः
कारंकारममन्दमोदमयतां चित्तैकवित्तश्रियम् ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायश्रीश्रीमच्चित्रधरशर्मप्रणीतः
प्रमाणप्रमोदः परिपुष्टः ॥

———

अथ प्रमाणप्रमोदः

साकांक्षानुक्रमेण स्फुटललितपदन्यासतः सन्निधानं,
प्राप्तासौ तत्परापि प्रथितमततया योग्यतां द्योतयन्ती ।
भूयो नेत्यालपन्ती चकितमुपनिषन्मुग्धरामाभिरामा,
यन्नोचे व्यक्तमुक्तं हरिरवतु सदा वाग्विलासानतीतः ।।१।।

व्याख्या

गणेशजनिकारिणीं विविधविघ्नसंवारिणीं
शिरोग्रविधुधारिणीं सततविन्ध्यसञ्चारिणीम् ।
त्रिलोकसुषमादरीं समनवद्यविद्याधरीं
भजामि शुभसिद्धये त्रिपुरसुन्दरीमीश्वरीम् ।।१।।

प्रारिप्सितप्रबन्धनिर्विघ्नपरिसमाप्तिपरिपन्थिप्रत्यूहव्यूहविध्वंसपटीयसीं श्रीमद्भगवच्चर्चामिव मङ्गलमाचरन् शिष्याणां तदध्ययने व्याख्याकरणे वा आपाततो मङ्गलं भविष्यति फलविशेषाय शिष्या अप्येवं कुर्युरिति शिष्यशिक्षायै च ग्रन्थादौ निबध्नाति–साकांक्षेति ।।

स हरिः, वः युष्मान्, अवतु रक्षतु । अभ्यर्हितत्वान्मामिति शेषः। स कः ? यं हरिं, मुग्धरामाभिरामा मुग्धरामेवाभिरामा । अत्र मध्यमपद(लोपः), तादृशी मनोज्ञा तद्वदाचरणकर्त्री च, उपनिषत् श्रुतिः, उक्तम् उक्तमपि नेत्याद्यालपनभूयस्त्वयुक्त्येतिभावः । व्यक्तमुक्तं यथा स्यात्तथा न ऊचे किमपि न कथयामास, स इत्यन्वयः। चकितमिति-

विशेषणदानेन व्यञ्जनया इदं सूचितं भवति। भूयो निषेधकरणे विध्युन्मज्जनम्। यथाऽभावाभावो भाव एव भवति तथा [1]यदि सखी सम्भावयेत् स्थिरप्रसन्नचित्तेन निषेधेऽप्यन्यथा सा सम्भावयेदितिदृष्ट्या सचकितत्वं मुग्धाया भवतीत्याशयः। विशेषणद्वारा मुग्धरामासाम्यं घटते। साकांक्षा—यथा मुग्धा स्त्री प्रियतमे साकांक्षा तथा उपनिषदप्यशेषत ईश्वर एव साकांक्षा शाब्दबोधौपयिकाकांक्षासहिता। मुग्धापि स्फुटललितपदन्यासतः पत्युः सन्निधानं प्राप्ता भवति। इयन्तु शाब्दबोधौप(यि)कासत्तिरूपं सन्निधानं सान्निध्यं प्राप्ता मुग्धा। तत्परा—पतिमात्रपरा, यतो मुग्धा स्वीयाप्रभेदविशेषः। उपनिषत्तु तत्परा ईश्वरबोधेच्छयोच्चरिता। एतावता शाब्दबोधौपयिकतात्पर्यसहिता। प्रथितमततया योग्यतां द्योतयन्ती। मुग्धापक्षे प्रथितं ख्यातं, मतं ज्ञानं यस्याः सा प्रथितमता, तस्याः भावः प्रथितमतता, तया स्वयोग्यतां स्वामिसम्भोगयोग्यतां द्योतयन्तीत्यर्थः। स्त्रियाः पुरुषस्य चासामर्थ्योदय एव बुद्धिवैशद्यं भवतीति स्फुटमेव योग्यताद्योतनमित्याशयः। अर्थादियमतीव बुद्धिमती इत्यादि सामाजिकस्य विशेषतो विविधविधिकर्तृणा वचसा—"बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा" इत्यादि नीतिशास्त्रेण च तस्याः प्रथितमतत्वात्। उपनिषत्पक्षे प्रथितं मतमास्तिकषड्दर्शनसम्पन्नमीश्वरोस्तीति सिद्धान्तमतं यस्याः सा तथा। तद्भावः प्रथितमतता तयेत्यर्थः। ईश्वरसद्भाव एव श्रुतेर्योग्यवाक्यता भवतीति भावः। एतावता शाब्दबोधौपयिकयोग्यतासम्पत्तिः। पुनः कीदृशी, भूयोनेत्यालपन्ती मुग्धाऽपि भवति। नानाप्रकारेणस्वामिलालनेऽपि नहि नहीत्येवोत्तरं ददाति। चकितमित्यादिव्याख्यानं पूर्वपृष्ठे समुक्तम्। यथा तथा चोपनिषदपि "इन्द्रियं नात्मा शरीरं नात्मा" इत्यादि वाक्यैर्नेत्येवालपति। एवं रूपेण व्यक्तवचनेन वक्रोक्त्या वा सर्वं कथयति किन्तु न व्यक्तमुक्तम्। तथैवोपनिषदपि वक्रोक्त्या ईश्वरमेव प्रतिपादयति किन्तु नैव व्यक्तोक्त्या। एतावता परिपूर्णरूपकालङ्कारो दर्शितः। उत्प्रेक्षालङ्कारश्च स हरिः कीदृशः वाग्विलासान-

---

१. सन्दिग्धाक्षरम्।

श्रोतव्यो मन्तव्यः इति श्रुत्यात्मश्रवणं विधीयते। तत्र प्रमाणवाक्यमात्रादेव श्रवणं मननाङ्गं न तु वेदादेव "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इति स्मृतावपि श्रुतिपदं प्रमाणवाक्योपलक्षकमिति

तीतः। "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" इति भगवद्वाक्यात् वाग्विलासातिक्रमणमीश्वरस्य सुप्रसिद्धमेवेत्याशयः। एतद्विशेषणं मुग्धापक्षे तत्प्रियतमेऽपि संघटते। यथा स मुग्धाया वाग्विलासमतिक्रम्य स्वाभिलषितं विधत्ते। तथैवोपनिषदोपि वाग्विलासमतिक्रम्य त्रिलोकप्रसिद्ध ईश्वरः पूज्योऽस्तीति श्रुतिविशेषणदानमहिम्ना व्यंग्यवृत्त्याऽपि कथितं भवतीति सव्यंग्यकाव्यत्वादुत्तमत्वं सूचितम्।[1]

प्रथितमततयेत्यादि विशेषणदानेन ईश्वरप्रमाणं विवेचयिष्यामीति विषयप्रदर्शनम्। प्रयोजनन्तु प्रमाणतत्त्वज्ञानम्। सम्बन्धश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः प्रमाणतत्त्वावधारणकामोऽधिकारी विषयप्रदर्शनेनैव अनुबन्धचतुष्टयमपि दर्शयतीति भावः। यथा मुग्धासहितनायकस्य प्रसन्नचित्तता भवति तथैवेश्वरोपपादकोपनिषत्सहितेश्वरस्य प्रसन्नचित्तत्वाद् द्रुतमिष्टसिद्धिं विधास्यतीत्याशयः।

प्रारिप्सितग्रन्थस्य भूमिकामारचयति श्रोतव्य इत्यादि। प्रमाणवाक्यमात्रात्—श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादियावदीश्वरप्रतिपादकवाक्यादित्यर्थः। मात्रपदस्य शेषार्थकत्वात्। न तु वेदवाक्यादेव। अत्र एवकारोऽवधारणार्थकः स्मृत्यादिव्यावर्त्तकः। प्रमाणवाक्योपलक्षकमिति अजहत्स्वार्थलक्षणया स्मृत्यादिसकलप्रमाणवाक्योपलक्षकमित्यर्थः। अजहत्स्वार्थलक्षणा च शक्यतानवच्छेदकरूपेण शक्याशक्योभयबोधिका। यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा। तथात्रापि प्रमाणवाक्यत्वेनार्थादीनां वा प्रतिपादकवाक्यत्वेन श्रुतिस्मृतिपुराणादिवाक्ये लक्षणा। नियमा-

---

१. "सव्यंग्यवचनेन" इत्यर्थः।

मिश्राः । तेषामयमाशयः श्रुतिवाक्यजश्रवणस्यैव मननाङ्गत्वे नियमादृष्टकल्पनं बाधकम् । ननु श्रवणस्य साक्षादेव मननकारणत्वे नादृष्टकल्पनम् । यदि च श्रवणनाशेऽपि मननोत्पत्तेः न साक्षात्कारणत्वम्, तदा सर्वेषामेवादृष्टकल्पनमिति चेन्न, श्रुतिवाक्यत एव श्रवणस्यापेक्षितत्वे स्मृत्यादिवाक्येभ्यः श्रुतभगवत्प्रभावस्य मननासम्पत्तये श्रुतिवाक्यजश्रवणस्य तत्त्वेनादृष्टद्वारा मनने तज्जन्यादृष्टे वा हेतुत्वकल्पने गौरवात् । मम तु श्रवणमात्रस्य प्रमाणवाक्यजश्रवणस्य वा तत्त्वेनादृष्टद्वारा मननादिहेतुत्वमित्यतिलाघवात् । अमुमेवार्थं "श्रुतिवाक्येभ्य इत्यत्र श्रुतिवाक्यशब्दः प्रमाणवाक्यलाक्षणिक एव, अन्यथा नियमादृष्टकल्पनापत्ते"-रित्यादिना मिश्रचरणा अवदन् ।

न च प्रमाणशब्दजन्यशाब्दबोधस्यादृष्टजनकत्वे स्मृत्यादिवाक्यजन्यशाब्दबोधव्यक्तीनामनन्तानामदृष्टोत्पादकत्वे ऽनन्तव्य-

---

दृष्टकल्पनमिति । श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इदं वाक्यं यदि [1]..........
दितिवन्नियमवाक्यं भवेत् ।[2]..................................
तथा वेदवाक्यजश्रवणमेवादृष्टमुत्पाद्य फलाय भवतीत्येव नियमादृष्टकल्पनम् । इत्थञ्च स्फुटमेव गौरवमिति भावः । श्रोतव्य इति वाक्यस्य नियमवाक्यत्वास्वीकारेऽपि अदृष्टकल्पनमावश्यकमेवेत्याशङ्कते नन्विति ।

उत्तरयति श्रुतिवाक्यत एवेति । श्रुतिवाक्यजश्रवणस्य तत्त्वेन श्रुतिवाक्यजन्यश्रवणत्वेन सामान्यतः श्रुतिवाक्यत्वमतिप्रसक्तमेव । किन्तु भगवत्प्रतिपादकश्रुतिवाक्यत्वं तथा वाच्यम् । तच्च भगवत्प्रतिपादकत्वे सति भगवदुच्चरितवाक्यत्वं नित्यवाक्यत्वं वा । तदवच्छिन्नविषयकश्रावणप्रत्यक्षजन्य-

---

१, नष्टान्यक्षराणि ।

२. ,, ,,

क्तिकल्पनापत्तेरिति वाच्यम्, लाघवात् प्रमाणशब्दजन्यशाब्दबोधस्य तत्त्वेनादृष्टद्वारा मननोपयोगित्वे सिद्धेऽनन्तादृष्टव्यक्तिकल्पनस्योत्तरकालिकत्वेन फलमुखतया दोषत्वाभावात्। अथ "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य" इत्यत्र श्रुतिशब्दस्य प्रमाणशब्दमात्रपरत्वे लक्षणा स्यात् गौरवाच्च। लक्षणाकल्पने निषादस्थपत्यधिकरणं दत्तजलाञ्जलि स्यात्। तथा हि "निषादस्थपतिं याजयेत्" इत्यत्र निषादस्थपतिपदे कर्मधारयस्वीकारेऽपूर्वविद्याकल्पनगौरवं स्या-

---

पदार्थोपस्थित्यधीनभगवद्विषयकशाब्दबोधवतो मननं फलसाधनम्। नियमपक्षे लक्षणापक्षे च केवलं भगवत्प्रतिपादकवाक्यश्रवणजन्यपदार्थोपस्थित्यधीनभगवद्विषयकशाब्दबोधो मननसाधनम्। प्रथमपक्षे भगवदुच्चरितत्वं हि नित्यज्ञानादिमदुच्चरितत्वम्। भगवत्त्वस्य जातित्वाभावात् ज्ञानादौ नित्यत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। प्रागभावत्वादि···मपि शुद्धतरम्। द्वितीयपक्षेऽपि नित्यत्वप्रवेशेन नियमपक्षेऽतीव गौरवमिति भावः।

फलमुखतयेति। इदमुपलक्षणम्। नियमपक्षे मननजनकादृष्टं प्रति नित्यज्ञानादिमदुच्चरितवाक्यश्रवणजन्यभगवद्विषयकशाब्दबोधत्वेन नित्यवाक्यश्रवणजन्यशाब्दबोधत्वेन वा हेतुत्वम्। द्वितीयपक्षे तादृशादृष्टं प्रति भगवद्विषयकशाब्दबोधत्वेन हेतुत्वमिति कार्यकारणभावे नित्यत्वाद्यप्रवेशेनातीवलाघवम्। कार्यकारणभावस्य शरीरं लघु जातम्। कार्यताश्रयीभूतस्याश्रयस्याधिक्ये न कापि क्षतिरित्याशयः। गौरवभयेन यदि लक्षणाङ्गीकारः तदा निषादस्थपत्यधिकरणविरोध इत्याह अथेति। तथा हीति निषादस्थपतिं याजयेदित्यत्र यदि कर्मधारयसमासस्तदा निषादाभिन्नस्थपतिं याजयेदित्यर्थः। इत्थञ्च यागोपयोगिश्रुत्यादिवाक्यपठने निषादस्याधिकाराभावात्तत्रापूर्वविद्यामर्थात्तत्तद्वेदमन्त्रसमानार्थकाधुनिकसंस्कृतेन पद्धतिं प्रकल्प्य यागः कारयितव्य इत्येवापूर्वविद्याकल्पनम्। तत्कल्पनस्य चोत्तरकालिकतयानन्दाय। निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीतत्पुरुषे निषादस्य स्थपतित्व-

दिति लक्षणानियतः षष्ठीतत्पुरुष एव स्यादिति कर्मधारय-सिद्धान्तो नोपपन्नः स्यादिति चेन्न, विशिष्टवाचकशब्दस्य केवल-विशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्नबोधकत्त्वे लक्षणाविरहात् । श्रुति-वाक्ये च प्रमाणशब्दत्त्वस्य विशेष्यतावच्छेदकत्त्वात् । अत एव "श्येनेनाभिचरन्यजेत" इत्यत्र लक्षणां विनैव इष्टसाध्यताबोध इति वदन्ति ।

मधिष्ठातृत्वं तथा क्षणस्यापि सम्भवतीति न तत्रापूर्वविद्याकल्पनापेक्षा, परन्तु षष्ठीतत्पुरुषे निषादस्य स्वामित्वादिसम्बन्धेनान्वयस्य नामार्थद्वयोर-भेदातिरिक्तसंबन्धेनान्वयस्याव्युत्पन्नतया कर्त्तुमशक्यतया निषादसम्बन्धिनि लक्षणा। तथा च निषादसम्बन्ध्यभिन्नस्थपतिरित्यर्थोऽपि निषादस्थपति-पदेन ब्राह्मणस्य धर्त्तुं शक्यत्वान्नापूर्वविद्याकल्पनम्। परन्तु लक्षणाकल्पने वृत्त्यन्तरगौरवकल्पनमिति अद्येत्यादौ तदकल्पनलाघवरूपफलस्य सम्भवात् अग्रेऽपूर्वविद्याकल्पनेऽपि तस्योत्तरकालिकत्वेनादूषकत्वात् षष्ठीतत्पुरुषपरि-त्यागः। यथा सकण्टमार्गमुच्चावचमार्गं वा दृष्ट्वा तदपाकरणरूपलाघव-मासाद्य दूरमार्गगमनेऽपि लोकप्रवृत्तिरित्येव फलमुखगौरवं न दोषायेति न्यायमूलीभूतेति चेदधिकरणमूलं बोध्यम्।

गौरवभयाल्लक्षणाङ्गीकारे निषादस्थपत्यधिकरणविरोधः स्यात्। परन्तु प्रकृते लक्षणैव नाङ्गीक्रियते इति प्रतिपादयन्नुत्तरयति विशिष्टवाच-केति। श्रुतिवाक्ये चेति। श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य एतद्घटकश्रुतिपदं वाचकम्। भगवदुच्चरितप्रमाणशब्दत्वाद्वाच्यः। विशेष्यतावच्छेदकत्वादिति। भगव-दुच्चरित्वरूपविशेषणस्य विशेष्यतावच्छेदकं प्रमाणशब्दत्वमित्यर्थः।

तथा च भगवदुच्चरितत्वविशेषणमपहाय केवलप्रमाणशब्दत्वाव-च्छिन्नपरत्वे श्रुतिपदस्य लक्षणा न भवतीति विशेष्यतानवच्छेदकधर्मपुर-स्कारेण बोधजनने एव लक्षणा भवतीत्याशय इति वदन्तीति मिश्रादयो

अत्र वदामः—पुराणादिवाक्यतो भगवतः श्रवणादनन्तरक्षणावच्छिन्न आत्मादृष्टोत्पत्तितदभावान्यतरवान् मेयत्वात् इत्यादि सामान्यतोदृष्टावतारे प्रसिद्धादृष्टोत्पत्तिबाधे तदितरादृष्टोत्पत्तिकल्पनागौरवप्रतिसन्धानेऽदृष्टोत्पत्त्यभावाभिन्नो निरुक्तान्यतरः सिद्ध इति तत्क्षणावच्छेदेनात्मनि सिद्धस्य श्रवणजन्यादृष्टोत्पत्त्यभावस्य किञ्चित्कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावप्रयोज्यत्वनियमादवश्यमदृष्टविशेषकारणतावच्छेदकः कश्चन धर्मोऽङ्गी-

---

वदन्तीत्यर्थः। तेषां मतस्य निराचिकीर्षया युक्तिं उपन्यस्यति अत्र वदाम इत्यादिना। न च वेदवाक्यतोऽपि श्रुतभगवत्प्रभावानन्तरक्षणावच्छिन्नात्मानं पक्षीकृत्य अदृष्टतदभावान्यतरसाधने प्रसिद्धादृष्टबाधेन नव्यादृष्टकल्पनागौरवप्रतिसन्धानेन चादृष्टभावात्मकान्यतरसाध्यत्वमिति वाच्यम्, तदानीमदृष्टाभावयोजकस्य कारणाभावस्य वक्तुमयोग्यत्वात्। न च यथा पुराणादिवाक्यश्रवणानन्तरक्षणावच्छिन्नात्मनि नवीनादृष्टकल्पनरूपगौरव भयेनादृष्टाभावः साध्यते तथात्रापि कथन्नादृष्टाभावः सेत्स्यतीति वाच्यम्, श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यादि वेदवाक्यात् भगवद्विषयकश्रवणजन्यशाब्दबोधस्य च ईश्वरमननकारणत्वं क्लृप्तम्। श्रवणानन्तरं सद्यः सर्वेषां मननासम्भवात्। सम्भवे वा वारंवारमीश्वरविषयकानुमानमेव मननम्। उत्तरोत्तरानुमानपूर्वक्षणे भगवद्विषयकशाब्दबोधस्यासत्वात् तस्य कारणत्वं दुर्वचमित्यदृष्टद्वारा भगवद्विषयकशाब्दबोधस्य हेतुत्वं वाच्यम्। अन्यथा श्रुतिवाक्यस्यापार्थकतापत्तेः। इत्थञ्च वेदवाक्यानुरोधेन भगवद्विषयकशाब्दबोधस्यादृष्टद्वारा कारणत्वस्य क्लृप्ततयादृष्टाभावसाधकनिरुक्तानुमानस्य बाधितत्वात्। न च श्रोतव्य इति श्रुतिवाक्यात् सामान्यतः पुराणादिवाक्यतः श्रुतभगवत्प्रभावेऽप्यात्मनि कथमदृष्टसिद्धिरावश्यकी, अतएव श्रुतो हि भगवान्बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवतीत्युदयनचरणोक्तिरपि सङ्गच्छते इति वाच्यम्। श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिरिति

कर्त्तव्यः । स च न प्रमाणशब्दजन्यशाब्दत्वरूपः । तदवच्छिन्ना-भावस्य तदात्मन्यसत्त्वात् । अत : परिशेषाद्वेदवाक्यजन्यशाब्दत्व-रुप एवादृष्टविशेषजनकतावच्छेदकः धर्मः सिद्ध्यति ।

न चैवं निषादस्थपतावपि विद्याविरहोऽनुमीयताम्, अपूर्व-विद्यायाः कल्पनागौरवप्रसङ्गपराहतत्वात्, प्रसिद्धविद्यायाश्च बाधादिति वाच्यम्, लक्षणाकल्पनगौरवभयान्मीमांसापरिशोधित-न्यायात् निषादस्थपतिपदस्य त्रैवर्णिकेतरपरत्वे सिद्धे याजनान्य-

---

श्रुतिविशेषसहकारेण श्रुतिवाक्यजशाब्दबोधस्यैव मन्तव्यत्वमुन्नीयते । उदयनचरणवाक्येऽपि पुराणादिपदमनुवादार्थकमर्थात् श्रुतिप्रतिपाद्यार्थप्रति-पादकत्वेन प्रमाणपदं कथञ्चिदुपयोगि पुराणादिश्रवणमपि ।

वस्तुतः पुराणादिवाक्यतस्तत्तदवतारप्रणाल्या भगवद्गुणानुवादे शुश्रूषा जायते । पश्चात् कठिनेऽपि श्रुतिवाक्ये शुश्रूषा भवति । मननाङ्गता च श्रुतिवाक्यश्रवणजन्यभगवद्विषयकशाब्दबोधस्यैव विचारनिश्चयत्वात् । अन्यथापभ्रंशशब्दादपि श्रुतभगवत्प्रभावस्यापि यथोक्तमननसिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धये च तथा विधात्मन्यपि मननाङ्गादृष्टकल्पन स्यादिति सर्वथैवा-नुभवसिद्धं प्रतिभातीति पूर्वापरविचारपर्यालोचनया वेदवाक्यजश्रवणजन्य-शाब्दबोधस्य तत्त्वेन श्रुतिरूपेणापि लक्षणाकरणबहुतरादृष्टाकल्पनसहितेन मननाङ्गतेति सिद्धान्तो ग्रन्थकृतां साधीयानिति ध्येयम् ।

उक्तानुमानं प्रति[1] ....

.........शङ्कते न चेति । तथा च निषादस्थपतिः अपूर्वविद्यातदभावान्यत-रवान् मेयत्वादित्यनुमानाकारः । उत्तरयति "लक्षणाकल्पनेति" । मीमांसा परिशोधितन्यायात्फलमुखगौरवन्न दोषायेति न्यायात् मुखे आदौ लक्षणाया अकल्पनात्मकलाघवरूपफलमवाप्य पश्चादपूर्वविद्याकल्पनगौरवं न दोषायेति लौकिकव्यवहारमूलन्यायस्यानुपदमेव प्रदर्शितत्वादिति ध्येयम् ।

---

१. नष्टान्यक्षराणि ।

थानुपपत्त्या विद्यासिद्धौ विद्याविरहानुमानस्य बाधितत्त्वात्। "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इत्यत्र श्रुतिपदस्य वेदत्त्वविशिष्टवाचकतया वेदवाक्यजन्यश्रवणे तात्पर्यकल्पने मुख्यार्थत्यागायोगात्। किञ्च विशिष्टवाचकपदस्य विशेष्यतावच्छेदकेन केवलेन बोधजनने न लक्षणेत्याज्ञामात्रम्, केवलविशेष्यतावच्छेदकस्य शक्यतानवच्छेदकत्वेन तेन रूपेण बोधे शक्तेरसामर्थ्यात्। शक्यतावच्छेदककोटिनिविष्टत्वमात्रेण शक्तिगम्यत्वे प्रमाणभागस्यापि त्यक्तुमुचितत्त्वात् गौरवात्तस्मात्कारणतावच्छेदकादिगौरवभयाद् विध्यादिवाक्ये न लक्षणा समुचितेति वेदवाक्यजश्रवणमेव मननाङ्गम्। न चैवं 'श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिभ्य इदानीं मन्तव्यो भवति" इत्युदयनचरणवाक्यविरोध इति वाच्यम्, तत्र स्मृत्यादिग्रहणस्य संवादार्थत्वात्। तस्माद् वेदवाक्यादेव श्रवणं मननाङ्गमिति श्रवणानन्तरं मननम्। तच्चानुमानं हेतुसाध्यम्। हेतवश्च कार्यत्वादय आचार्यैरुक्ताः। तथा हि—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥ इति

श्रोतव्यो मन्तव्य इत्यत्र मननप्रकारं प्रदर्शयति–हेतव इति। तत्र कार्यत्वहेतुकं प्रथममनुमानम्। तथा च जन्यकृत्यजन्यजन्योभावः स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्योजन्यतावत्त्वादित्यनुमानशरीरं पक्षादौ श्रुति[1] विशेषणदानस्य फलं दर्शयति कृतावित्यादि। न्यायनये जन्यमात्रस्यैवेश्वरकृतिजन्यतया जन्यत्वविशेषणानुपादाने कृत्यजन्यभावस्याप्रसिद्धत्वात् पक्षा-

---

१. 'जन्यत्व' इति वेति सन्दिग्धाक्षरम्।

अत्र कार्यत्वहेतुकं प्रथममनुमानम्। कार्यत्वं च जन्यभावत्वम्। पक्षश्च जन्यकृत्यजन्यो जन्योभावः। कृतौ जन्यत्वविशेषणं च न्यायनये पक्षाप्रसिद्धिवारकम्, परनये तूपरञ्जकम्, पक्षे विशेषणस्योपरञ्जकस्यापि दानात्। जन्ये जन्यकृत्यजन्यत्वविशेषणं चांशतः सिद्धसाधनवारणाय। भावत्वविशेषणं च साध्यस्य स्वोपादानेत्यादेरंशतः प्रसिद्धिवारणाय। हेतौ भावत्वविशेषणं च व्यभिचारवारणाय। साध्यं च स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्यत्वम्। अपरोक्षज्ञानादीनां स्वोपादानगोचरत्व-

---

प्रसिद्धिः। मीमांसकनये नित्यकृतेरस्वीकारान्नाप्रसिद्धिसम्भावनेति। तन्मते उपरञ्जकमर्थादात्मरूपकीर्त्तनार्थमेव तद्विशेषणमिति भावः दर्शितः।

सिद्धसाधनेति। तथा च जन्यभावमात्रस्य पक्षत्वे घटादेरपि पक्षान्तरगततया तत्र साध्यस्य सिद्धत्वात् सिद्धसाधनम्। भावत्वेति पक्षे भावत्वविशेषणानुपादाने गृहे[1]·······दिना भूमिकम्पेन वा दण्डादिनिपातेन घटादिध्वंसजननात् तादृशध्वंसे जन्यकृत्यजन्ये स्वोपादानेत्यादिसाध्याप्रसिद्धिः। ध्वंसस्योपादानकारणस्यैवाप्रसिद्धत्वात् समस्तसाध्याप्रसिद्धिः। समवेतकार्यस्य एव समवायिकारणस्य नैयायिकैः स्वीकारात्। सूचीकटान्यायाच्च हेतुविशेषणस्य फलं दर्शयति हेताविति। हेत्वंशे जन्यत्वानुपादाने जन्यत्वमात्रस्य ध्वंसे सत्वात् तत्र साध्यस्यासत्वाद्व्यभिचारः स्फुट एव।

एवं भावत्वमात्रस्य हेतुत्वे हेतोर्नित्यभावे जात्यादौ नित्यभावमात्रे सत्वात्तत्र साध्यस्यासत्वाद्व्यभिचार एव स्यादित्युभयविशेषणस्य व्यभिचारवारणेमव फलमिति भावः।

साध्यांशे स्वोपादानगोचरत्वविशेषणं तथा सिषाधयिषया अर्थविशेषफलं किमपि नास्ति। किन्तु स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षा-

---

१. नष्टान्यक्षराणि।

विशेषणं च तथा सिषाधयिषया। तथा च जन्यकृत्यजन्यो जन्यो भावः स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिजन्यो जन्यभावत्वादित्यनुमानशरीरम्[1]। स्वत्वाननुगमपक्षे तु स्वविषयसमवेतत्व-स्वजन्यत्वोभयसम्बन्धेन प्रत्यक्षादिमत्त्वं प्रत्येकं साध्यम् स्वपदं चात्र परिचायकमित्यनुगमः। जन्यत्वं स्वाधिकरणसमयाव्यवहितोत्तरसमयोत्पत्तिकत्वं न तु स्वनिष्ठकारणता निरूपितकार्यता-

---

कृतिजन्यत्वरूपेणैव साधनकर्त्तुरिच्छास्ति। साऽपि इच्छा दृष्टान्तसाम्याय। तथा च यथा घटादिकार्यं कुलालसमवेतापरोक्षज्ञानचिकीर्षादिजन्यं भवति तथा जन्यकृत्यजन्यजन्यो भावः क्षित्यङ्कुरादि ईश्वरसमवेतसाधकाद्युपादान-गोचरप्रत्यक्षादिजन्यः। तावदद्व्यणुकादिविषयकप्रत्यक्षं अस्मदादीनां न सम्भवति इति तावदुपादानगोचरप्रत्यक्षादिरीश्वरस्यैव सम्भवतीति तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः। उक्तरूपेण साध्यांशे व्यभिचाराद्यवारकस्यापि विशेषणस्य दाने न कापि क्षतिरिति हृदयम्। उक्तानुमानस्य स्वत्वघटितत्वेन न सामान्यानुमानता इति प्रकारान्तरेण अनुमानं दर्शयति— "स्वत्वाननुगमपक्षे त्विति।" तथा च जन्यकृत्यजन्योभावः क्षित्यङ्कुरादिः स्वविषयसमवेतत्वस्वजन्यत्वोभयसम्बन्धेन प्रत्यक्षवान् चिकीर्षावान् कृतिमान् वा जन्यभावत्वादित्यनुमानशरीरस्थसम्बन्धघटकस्वत्वस्य परिचायकत्वात् विषयसमवेतत्वजन्यत्वोभयसम्बन्धश्चैवफलं साध्यतावच्छेदकसम्बन्धत्वादित्याशयः।

---

१. अदृष्टाद्वारकोपादानगोचरजन्यकृत्यजन्यं समवेतं जन्यम् अदृष्टप्रागभावव्याप्य प्रागभावाप्रतियोग्युपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यम्, समवेतत्वे सति प्रागभावप्रतियोगित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः, तथा चैतत्, तस्मात्तथेति वर्द्धमानोपाध्यायाः। यद्वा कार्यप्रदं तात्पर्यपरम्, तथा च वेदप्रामाण्यसम्पादकतात्पर्याधारतया परमेश्वरसिद्धिरिति भगीरथठक्कुराः।

श्रयत्वम्, अतिरिक्तस्य जन्यजनकभावस्याभावात्, नियतपूर्वोत्तरभावादिरूपत्वे च शेषवैयर्थ्यात्। नच स्वाधिकरणसमयध्वंसाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणसमयध्वंसाधिकरणत्वरूपस्य स्वाधिकरणसमयाव्यवहितोत्तरत्वस्य नित्यकृतेरप्रसिद्धेर्जन्यकृतेश्च सर्गादावभावात् कथमिदमनुमानमिति वाच्यम्, स्वाधिकरणसमयविशिष्टसमयोत्पत्तिकत्वस्य स्वाधिकरणसमयाव्यवहितोत्तरसमयोत्पत्तिकत्व (विशिष्ट) शब्दार्थत्वात्। समयविशिष्टत्वं च स्वध्वंसाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वस्वध्वंसाधिकरणत्वाभ्याम्। समयश्च क्षणः नातः पूर्वसर्गोत्पन्नाङ्कुरा-

---

"अतिरिक्तस्येति।" अर्थात् अखण्डोपाधिरूपस्य कारणत्वस्य कार्यत्वस्य वा स्वीकारादितिभावः। "नियतपूर्वोत्तरेति"। तथा च स्वाव्यवहितोत्तरक्षणोत्पन्नतत्कत्वं कारणत्वम्। स्वाव्यवहितपूर्ववर्त्तितत्कत्वं कार्यत्वम्। एवं सति निरुक्तकारणताघटकपदार्थमात्रनिवेशेन कार्यत्वस्यापि क्वचन सम्भवात् निरुक्तकार्यत्वघटकपदार्थमात्रस्य वा निवेशेन कारणत्वस्यापि निर्वचनसम्भवेन स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्यताश्रयत्वमित्यत्र शेषवैयर्थ्यात्। अर्थात् तावत्पदार्थघटितकार्यतानिवेशस्य वैयर्थ्यादित्याशयः। निरुक्तानुमाने शङ्कते न चेति। वाच्यमित्यग्रेणान्वयः। "नित्यकृतेरिति।" नित्यकृतेस्तु स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणसमयस्याप्रसिद्धत्वादप्रसिद्धिः यतश्च नित्यकृतेरनाद्यनन्तत्वात्। उत्तरयति "स्वाधिकरणसमयविशिष्टेति"। समयश्चात्र क्षणः तथा च स्वविषयसमवेतत्वस्वाधिकरणक्षणविशिष्टक्षणोत्पत्तिकत्वोभयसम्बन्धेनोपादानप्रत्यक्षादिकं साध्यमित्यर्थः। अत्र प्रथमक्षणपदं विहाय समयपदोपादाने दोषमाह—"नात" इति। पूर्वसर्गोत्पन्नो यः भाविसर्गोत्पन्नाङ्कुरोपादानगोचरयोगिसाक्षा(त्का)रस्तदधिकरणीभूतो यो निरुक्ताग्रिमसर्गीयाङ्कुरोत्पत्तिक्ष(ण)विनष्टः निरुक्तयोगिसाक्षात्कारसमानक्षणोत्पन्नादृष्टरूपः समयस्तमादाय सिद्धसाधनम्। अत्र प्रथमं स्वं भावि-

द्युपादानविषयकयोगिसाक्षात्काराधिकरणाङ्कुरोत्पत्तिसमयविनष्टादृष्टस्वरूपसमयमादायाङ्कुरादौ सिद्धिसाधनम् । न वा पूर्व-

---

सर्गोत्पन्नाङ्कुरोत्पादनगोचरयोगिसाक्षात्काररूपं तदधिकरणीभूतो यः तदीयोत्पत्तिक्षणोत्पन्नः तत्पूर्वसमयोत्पन्नो वा भाविसर्गीयाङ्कुरोत्पत्तिक्षणविशिष्टः स्थूलो लम्बायमानोऽदृष्टरूपसमयः। द्वितीयस्वपदेन तमादाय तद्रूपाधिकरणसमयतो भाविसर्गीयाङ्कुरोत्पत्तिक्षणस्तद्रूपाधिकरणमूहूर्तक्षणमनधिकरणमङ्कुरोत्पत्तिक्षणः द्वितीयस्वपदग्राह्यो यो निरूक्तादृष्टरूपस्समयस्तद्रूपाधिकरणत्वमपि निरुक्ताङ्कुरोत्पत्तिक्षणे इति स्वविषयसमवेतत्वस्वाधिकरणसमयविशिष्टक्षणोत्पत्तिकत्वोभयसम्बन्धेन निरुक्तयोगिसाक्षात्कारत्वं भाविसर्गीयाङ्कुरे सिद्धमेवेति सिद्धसाधनम्। क्षणपदोपादाने च निरुक्तादृष्टरूपसमयस्य क्षणत्वाभावात् वास्तविकपूर्वसर्गीयोपादानप्रत्यक्षाधिकरणीभूतो यः पूर्वसर्गीयक्षणः तद्विशिष्टस्तदीयद्वितीयः क्षणः, तादृशक्षणोत्पत्तिकत्वस्य भाविसर्गीयाङ्कुरादौ बाधितत्वान्न सिद्धसाधनत्वस्य सम्भावनेति ध्येयम्। अत्र द्वितीयक्षणपदानुपादाने स्वाधिकरणक्षणविशिष्टसमयोत्पत्तिकत्वस्याभिधाने दोषमाह—"न वा पूर्वकालीनेत्यादि।" तथा च विद्यमानसर्गीय एव पूर्वकालोत्पन्नो योऽङ्कुरस्तदुपादानविषयको यो भावियोगिसाक्षात्कारः तत्तृतीयक्षणविनष्टो यः पूर्वकालीननिरुक्ताङ्कुरोत्पत्तिक्षणोत्पन्नोऽदृष्टविशेषस्तमादाय सिद्धसाधनमित्यर्थः, प्रथमस्वपदेन भावियोगिसाक्षात्कारस्य ग्रहणम्। द्वितीयस्वपदेन तदधिकरणीभूतः प्रथमस्तदुत्पत्तिक्षणः तमादाय तद्ध्वंसाधिकरणं द्वितीयक्षणः तद्ध्वंसाधिकरणत्वं तृतीयक्षणे तदानीमेव निरुक्तादृष्टविनष्टत्वाद् द्वितीयक्षणध्वंसानधिकरणत्वं तत्राक्षतमेव। स्वपदग्राह्यनिरुक्तयोगिसाक्षात्कारप्रथमक्षणध्वंसाधिकरणत्वमपि तद्द्वितीयक्षणो यस्तादृशादृष्टनाशपूर्वक्षणस्तदवच्छेदेन विनश्यदवस्थे निरुक्तादृष्टे वर्त्तते इति निरुक्तोभयसम्बन्धेन तादृशपूर्वकालोत्पन्नाङ्कुरोपादानविषयकयोगिसाक्षात्काररूपसाध्यवत्वं निरुक्तयोगिसाक्षात्कारप्रथमक्षण-

कालीनाङ्कुराद्युपादानविषयकभावियोगिसाक्षात्कारतृतीयक्षणवि-नष्टपूर्वकालीनाङ्कुरोत्पत्तिकालीनादृष्टादिकमादायाङ्कुरादौ सिद्धसाधनम्। तादृशसमयोत्पत्तिकत्वं च स्ववृत्तित्वस्ववृत्तिध्वंस-प्रतियोग्यवृत्तित्वाभ्यां तादृशसमयविशिष्टत्वम्, तेन पूर्वसर्गीय-

---

विशिष्टनिरुक्तादृष्टरूपसमयोत्पत्तिके निरुक्तयोगिसाक्षात्कारपूर्वकालोत्पन्नाङ्कुरे सिद्धमेवेति स्फुटतरमेव सिद्धसाधनम्। द्वितीयक्षणपदोपादाने च निरुक्तयोगिसाक्षात्कारप्रथमक्षणविशिष्टो यः क्षणः स च तद्द्वितीयक्षण एव। तदुत्पत्तिकत्वस्य निरुक्ताङ्कुरे बाधितत्वात् तस्य च पूर्वकालोत्पन्नत्वात् निरुक्तलम्बायमानादृष्टरूपसमयस्य क्षणत्वाभावान्न तमादाय सिद्धसाधनत्वस्य सम्भावनापीति ध्येयम्। स्वविषयसमवेतत्वस्वाधिकरणक्षण-विशिष्टक्षणोत्पत्तिकत्वोभयसम्बन्धेन प्रत्यक्षादेः साध्यत्वं पर्यवसितम्।

अत्रोत्पत्तिः केति प्रदर्शयति—"तादृशसमयोत्पत्तिकत्वञ्चेति।" तथा च स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोग्यवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन स्वाधिकरणक्षणविशिष्टक्षण-विशिष्टत्वमेव तादृशक्षणोत्पत्तिकत्वम्। अत्र प्रथमसम्बन्धानुपादाने दोषमाह—'तेनेति।" पूर्वसर्गीयो यो विद्यमानसर्गोत्पन्नक्षित्युपादानगोचरो योगिसाक्षात्कारः तमादाय सिद्धसाधनमित्यर्थः। व्यतीतसर्गे भाविसर्गोत्पन्नक्षित्युपादानगोचरो योगिसाक्षात्कारस्तद्विशिष्टत्वम् विद्यमानसर्गीयक्षितौ वर्त्तते। तथा हि पूर्वसर्गीययोगिसाक्षात्कारस्य यः प्रथमक्षणः तद्विशिष्टो यस्तस्यैव द्वितीयक्षणः तद्विशिष्टत्वं पूर्वोक्तप्रथमसम्बन्धेन क्षितावस्ति। स च सम्बन्धः स्ववृत्तिध्वंसाप्रतियोग्यवृत्तित्वरूपः स्वनिरुक्तद्वितीयक्षणः, तद्वृत्ती यो ध्वंसः स तत्पूर्वक्षणध्वंसः तत्प्रतियोगी स एव पूर्वक्षणः तदवृत्तित्वस्याग्रिमसर्गोत्पन्नक्षितावबाधितत्वात्। स्ववृत्तित्वरूपद्वितीयसम्बन्धोपादाने च निरुक्तसाक्षात्कारद्वितीयक्षणे अग्रिमसर्गीयक्षितेर्वृत्तित्वाभावात् स्ववृत्तित्वरूपद्वितीयसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वस्य तत्रासभवान्न सिद्धसाधनमिति भावः।

क्षित्युपादानगोचरयोगिसाक्षात्कारमादाय विद्यमानसर्गीयक्षित्युपादानगोचरयोगिसाक्षात्कारमादाय वा न सिद्धसाधनम् । अत्रोत्पत्तिनिवेशावश्यकत्वेऽपि द्वितीयक्षणपदं न देयमिति मन्तव्यम् । समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति लौकिकविषयत्वादिना साक्षात्कारादीनां जनकत्वमनुकूलतर्कमूलमत्रेति ॥१॥

द्वितीयसम्बन्धस्य फलमाह—'विद्यमानसर्गीयेत्यादि ।" तथा च विद्यमानसर्ग एव क्षित्युत्पादः । कियद्दिनोत्तरं निरुक्तक्षित्युपादानगोचरयोगिसाक्षात्कारो जातः । तदीयप्रथमक्षणविशिष्टद्वितीयक्षणे निरुक्तक्षितिरूपकार्यस्य वृत्तित्वात् स्ववृत्तित्वरूपद्वितीयसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वस्य निरुक्तक्षितावबाधितत्वात् सिद्धसाधनम् । स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोग्यवृत्तित्वस्वरूपप्रथमसम्बन्धोपादाने च स्वं निरूक्तसाक्षात्कारस्य द्वितीयक्षणः तद्वृत्तिध्वंसप्रतियोगी तत्साक्षात्कारस्य प्रथमक्षणः निरुक्तक्षितिरूपकार्यस्य तत्र वर्तमानतया तदवृत्तित्वाभावान्न प्रथमसम्बन्धसम्पत्तिरित्यतो न सिद्धसाधनमिति ध्येयम् ।

उत्पत्तिनिवेशस्यावश्यकत्वे द्वितीयक्षणपदं न देयमिति मन्तव्यमिति । अयमाशयः यत्र विद्यमानसर्ग एव प्रथममङ्कुरोत्पत्तिः तस्मिन् सर्ग एव कियद्दिनोत्तरं भूताङ्कुरोपादानविषयकयोगिसाक्षात्कारः निरुक्ताङ्कुरोत्पत्तिक्षणोत्पन्नादृष्टरूपसमयस्य निरुक्ताङ्कुरोपादानसाक्षात्कारतृतीयक्षणे नाशः । एवं लम्बायमानादृष्टरूपसमयः अत्राङ्कुरोपादानसाक्षात्कारप्रथमक्षणविशिष्टो यो निरुक्तादृष्टरूपसमयः तस्य प्रथमक्षणध्वंसाधिकरणतद्द्वितीयक्षणध्वंसानधिकरणत्वमस्ति । तत्तृतीयक्षणे तस्य विनष्टत्वात्स्वपदग्राह्यप्रथमक्षणध्वंसाधिकरणत्वमपि तदीयद्वितीयक्षणावच्छेदेन चास्तीति तादृशप्रथमक्षणविशिष्टनिरुक्तादृष्टरूपसमयोत्पत्तिकत्वस्य निरुक्ताङ्कुरे सत्वात् सिद्धसाधनरूपदोषवारणाय द्वितीयक्षणोपादानमस्ति । तदुपादाने च निरुक्तादृष्टरूपसमयस्य क्षणत्वाभावादेव नोक्तसिद्धसाधनम् ।

अत्र यदि स्ववृत्तित्वस्ववृत्तिध्वसंप्रतियोग्यवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन तद्वत्वमेव तदुत्पत्तिकत्वं तदा स्वाधिकरणप्रथमक्षणविशिष्टो निरुक्तादृष्टरूपः समयो भवतु । परन्तु उक्तोभयसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वरूपतदुत्पत्तिकत्वं निरुक्ताङ्कुरे नास्ति । निरुक्ताङ्कुररूपकार्यस्य तादृशादृष्टरूपसमय-वृत्तित्वसत्वेऽपि स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोगी यः निरुक्तसाक्षात्कारप्रथमक्षणः तत्तत्पूर्वनानाक्षणस्य तदवृत्तित्वाभावादेव न तादृशसमयोत्पत्तिकत्वमित्ये-तादृशोत्पत्तिपरिष्कारे नावश्यकता द्वितीयक्षणोपादानस्येति ध्येयम् ।

न चोत्पत्तिनिवेशस्यावश्यकत्वे इति कथमुक्तम् । तदनिवेशे स्वक्षणा-व्यवहितोत्तरक्षणवृत्तित्वमेव यदि स्वजन्यत्वमुच्यते तदा भूताङ्कुरोपादानगो-चरो यो निरुक्तयोगिसाक्षात्कारस्तदीयप्रथमक्षणविशिष्टो यस्तदीयद्वितीय-क्षणः निरुक्ताङ्कुरस्य तद्वृत्तित्वात् सिद्धसाधनम् प्रकृतस्थले दुर्वारमेव । तादृशक्षणवृत्तिजन्यभावे घटादौ तद्वृत्तिद्रव्यत्वादौ चातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, स्वक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणव्यवहितोत्तरक्षणाविशिष्टत्वस्यैव तादृशोत्पत्तिकत्व-पदेन विवक्षितत्वात् । वैशिष्ट्यञ्च स्ववृत्तित्वस्ववृत्तिप्रागभावप्रतियोगि-त्वोभयसम्बन्धेन । तथा च प्रकृतस्थले योगिसाक्षात्कारप्रथमक्षणविशिष्टो यस्तदीयद्वितीयक्षणस्तद्वृत्तित्वं तत्र नास्ति, निरुक्ताङ्कुरप्रागभावस्या-ङ्कुरक्षण एव नष्टत्वात् ।

एवं तत्पूर्वोत्पन्नघटादिप्रागभावस्यापि निरुक्तक्षणेऽविद्यमानत्वात् नित्ये च प्रागभावप्रतियोगित्वस्यैवासत्वात् । एतादृशोत्पत्तिनिवेशे द्वितीयक्ष-णपदोपादानमावश्यकमेव । अन्यथा स्वक्षणाव्यवहितोत्तरसमयोत्पत्तिकत्वमेव यदि स्वजन्यत्वं तदा प्रकृतस्थले निरुक्तयोगिसाक्षात्कारप्रथमक्षणविशिष्टो यः प्रदर्शितप्रणाल्या उक्तादृष्टरूपलम्बायमानसमयः तद्वृत्तित्वमपि पूर्वो-त्पन्नाङ्कुरेऽस्ति । तादृशाङ्कुरप्रथमक्षणावच्छेदेन तादृशादृष्टरूपसमयवृत्ती यः तदङ्कुरप्रागभावस्तत्प्रतियोगित्वमपि तादृशाङ्कुरेऽस्ति, प्रागभावस्य प्रतियोगिसाम्यत्वेन कार्यद्वितीयक्षणे तन्नाशस्वीकारात् । इत्थञ्चैतादृशो-त्पत्तिनिवेशे प्रकृतस्थले सिद्धसाधनम्, तादृशाङ्कुरे निरुक्तसाक्षात्कारजत्व-

द्वितीयं चानुमानं द्व्यणुकारम्भपरमाणूनामायोजनाख्यं कर्म पक्षयित्वा। तथा हि सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकजनकारम्भकसंयोग-

---

स्यातिव्याप्तिश्चेति द्वितीयक्षणपदमावश्यकमेव। तदुपादाने च तादृशादृष्ट-रूपसमयस्य क्षणत्वाभावादेव न कोऽपि दर्शितदोषसम्भावना। अत्र स्ववृत्ति-ध्वंसाप्रतियोगित्वस्य संबन्धत्वे सामान्याभावस्य सम्बन्धघटकस्य निवेशेऽति गौरवम्। प्रागभावप्रतियोगित्वनिवेशे सामान्याभावानिवेशेनातिलाघवम्। परन्तु प्रागभावस्य यदि स्वीकारः तदा ध्वंसघटितोत्पत्तिनिवेशस्य नाव-श्यकता, यदि च प्रागभावे मानाभाव इत्यादिप्राचीनमतेन युक्त्या च प्रागभावस्य नाङ्गीकारस्तदाऽगत्या प्रदर्शितध्वंसाप्रतियोगित्वघटितोभय-सम्बन्धेनोत्पत्तिनिवेशस्यावश्यकत्वमिति तन्मते च नावश्यकता द्वितीय-क्षणस्येत्यभिप्रायेण एतादृशनिवेशस्यावश्यकत्वे इति सम्भावनया तथोप-पादनादिति ध्येयम्।

"अनुकूलतर्कमूलमत्रेति" इति। अर्थात् उक्तानुमाने जन्यकृत्यजन्य-जन्यभावे कार्यत्वमस्तु, किन्तु उपादानगोचरप्रत्यक्षादिमज्जन्यत्वं मास्तु इति व्यभिचारशङ्कायां कार्यत्वं यदि उपादानप्रत्यक्षतद्विषयककृतिमज्जन्यत्व-व्यभिचारि स्यात् तदा स्वसमवायेन जन्यत्वावच्छिन्नं प्रति लौकिकविषय-त्वादिना उपादानप्रत्यक्षतद्विषयककृत्यादीनां जनकत्वं न स्यात्। तत्रापि व्यभिचारोद्भावने कार्यार्थी कारणे तृप्त्यर्थं भोजनादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् इति सर्वत्र स्वक्रियाव्याघात एव स्यात् इत्येव ग्रन्थकृतामाशयः, "व्याघाता-वधिराशंका तर्कश्शंकावधिर्मतः" इति न्यायसिद्धान्तादिति ध्येयम्।

द्वितीयानुमानं विशदीकरोति। "द्वितीयमिति" प्रामाण्यकर्मसामान्य-स्य पक्षत्वे अंशतः सिद्धसाधनमिति। सर्वकाले शिवपूजादिसमये पार्थिव-शिवनिर्माणादिसमये योगिप्रत्यक्षविषयीभूतप्रामाण्यद्वयस्य यः सयोगो जातः स च योगिप्रयत्नेनैव। तादृशकर्मणि योगिप्रयत्नजन्यत्वं सिद्धमेवेति सिद्ध-साधनमित्यर्थः। सर्गाद्यकाले योगिनामसम्भवात् तत्कालीनकर्मणि परिशे-

जनकं कर्म प्रयत्नजन्यम्, कर्मत्वात् चेष्टावत्[१]। परमाणुकर्मसामान्यस्य पक्षत्वे परमाणुगोचरयोगिप्रयत्नमादाय सर्गकालीनपरमाणुकर्मण्यंशतः सिद्धसाधनं स्यात् इति विशिष्य पक्षता, चेष्टायामन्वयव्यतिरेकग्रहात्। गृहीतं सामान्यतः कर्मत्वावच्छिन्नं प्रति प्रयत्नस्य कारणत्वमत्रान्वयेन अनुकूलतर्कमूलमिति ।।२।।

तृतीयं च क्षितौ पतनाभावं पक्षयित्वा। तथा हि क्षितौ पतनाभावः पतनप्रतिबन्धकप्रयोज्यः गुरुवृत्तिपतनाभावत्वात्[२], घटादिवृत्तिपतनाभाववत्।

षात् भगवत्प्रयत्नजन्यत्वमेव सेत्स्यति, इतिभावः। "अनुकूलतर्कमूलमिति" इति–तथा च सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भकपरमाणुकर्मणि कर्मत्वमस्तु प्रयत्नजन्यत्वं मास्तु इति व्यभिचारशङ्कायां कर्मत्वं यदि प्रयत्नजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तदा प्रयत्नजन्यतावच्छेदकं न स्यात्। अर्थात् तर्के बाधोऽनुश्रितः। तेन च आपाद्याभावेनापादकाभावसिद्धिः सम्पाद्यते। अत्र आपाद्यः प्रयत्नजन्यत्वाभावः तदभावः प्रयत्नजन्यत्वं तच्च चेष्टादावन्वयव्यतिरेकेण निर्णीतमस्ति, तद्धेतुना आपादकस्य प्रयत्नजन्यत्वव्यभिचारस्याभावः सिद्ध्यतीति व्यभिचारशंकानिवृत्तिः। कार्यकरणभावेऽपि अन्यथा उद्भाव्य व्यभिचारशंकने सर्वत्र स्वक्रियाव्याघात एव प्रतिबन्धकः। अन्यथा धूमार्थं वह्न्यानयने, तृप्त्यर्थं भोजनकरणे वा प्रवृत्तिर्न स्यात्। विनाऽपि वह्निं धूमो भवतु, विनाऽपि भोजनं तृप्तिः स्यादिति व्यभिचारशंकाकरनियतत्वादित्याशयः।

तृतीयानुमानं प्रदर्शयतीति—"तृतीयञ्चेति"। घटादिवृत्तीति देवदत्तधृतघटादिवृत्तीत्यर्थः। यद्यपि पतनाभावोऽत्यन्ताभावः स च नित्यः तत्र

---

१. परमाणुकर्म प्रयत्नजन्यं कर्मत्वादित्यनुमानमुक्तम्। यद्वायोजनं व्याख्यानम्, तथा च वेदव्याख्यातृतया भगवतः सिद्धिरिति भागीरथठक्कुराः।

२. ब्रह्माण्डधृतिः प्रयत्नवत्संयोगसाध्या धृतित्वादिति भगीरथठक्कुराः।

न च पतनाभावः पतनत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकः सामान्याभावः, स च घटे क्षितौ चैक एव, तस्य च पतनप्रतिबन्धप्रयोज्यत्वं सिद्धमेवेति सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, क्षितिवृत्तिपतनाभावाधिकरणता पतनप्रतिबन्धकप्रयोज्या गुरुवृत्तिपतनाभावाधिकरणतात्वात् घटवृत्तिपतनाभावाधिकरणतावदित्यनुमाने तात्पर्यात् । तत्र च क्षितौ ब्रह्माण्डे वाऽऽधारबाधे पतनाभावसाध्यको भगवतः प्रयत्न एव परिशेषात् पतनप्रतिबन्धकः सिद्ध्यति, वियति निश्चलश्येनशरीरे प्रयत्नस्य पतनप्रतिबन्धकत्वदर्शनात् इति ॥३॥

[1]चतुर्थञ्च ब्रह्माण्डनाशं पक्षयित्वा । तथा हि जन्यकृत्यजन्यो नाशः प्रयत्नस्यादृष्टमद्वारीकृत्य प्रयोज्यः, नाशत्वात्, मुद्गरप्रहारप्रयोज्यघटनाशवत्[2] । ब्रह्माण्डनाशत्वेन पक्षतायामङ्कुरादिनाशे सन्दिग्धानैकान्तिकं स्यादिति सामान्यतः पक्षता ।

कस्यापि प्रयोज्यत्वं नाऽस्ति, तथापि अत्र तत्सत्तानियतसत्ताकत्वरूपं क्षैमिकप्रयोज्यत्वमेव ग्राह्यं तच्च नित्येऽपि सम्भवतीति भावः । "वियतीति"—तथा च पतनप्रतिबन्धकत्वं प्रयत्नस्य प्रत्यक्षसिद्धमित्यतो नात्र व्यभिचारादिशंकासम्भावनापि—इति हृदयम् ।

चतुर्थमनुमानमाह । चतुर्थञ्चेति"—ब्रह्माण्डनाशमिति सामान्यतः नाशत्वेन पक्षत्वे मुद्गरं प्रहारयन् घटादिनाशप्रयत्नजन्यत्वं सिद्धमेवेत्यंशतः सिद्धसाधनम् । ब्रह्माण्डनाशत्वेनाऽपि पक्षतायां दोषमाह "सन्दिग्धानैकान्तिकमिति" । अयंभावः यत्राङ्कुरो जातः बीजवैषम्यादुसरभूमिसम्बन्धाद्वा

---

१. धृत्यादेरित्योदिपदग्राह्यं चतुर्थमित्यर्थः ।

२. ब्रह्माण्डादि प्रयत्नविनाश्यं संहारप्रतियोगित्वादित्यनुमानमिति भगीरथठक्कुराः ।

कार्यसामान्येऽदृष्टस्य कारणतया तद्द्वारा प्रयत्नप्रयोज्यत्वमादाय सिद्धसाधनमित्यदृष्टमद्वारीकृत्येति साध्ये विशेषणम् इति ।।४।।

पञ्चमं च पदपक्षकम् । तथा हि पद्यते ज्ञायते व्यवहाराङ्ग-

स नष्टः तत्र न कस्यापि प्रयत्नस्य प्रयोज्यतेति, स्फुटैव व्यभिचारशंका । सामान्यतो जन्यकृत्यजन्यनाशत्वेन पक्षतायां तादृशाङ्कुरनाशस्य पक्षान्तरगतत्वात् । न हि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारशंका दोषाय इति न्यायसिद्धान्तात् । पक्षबहिर्भूते व्यभिचारशंकायामेव सन्दिग्धानैकान्तिकत्वादिकं दोषाय इति भावः । अदृष्टमद्वारीकृत्य प्रयत्नप्रयोज्यत्वं साध्यम् । तत्र विशेषणफलं स्वयमेव दर्शयति "कार्यसामान्य" इति । यत्र सृष्टिकाले केषाञ्चिद् दुष्कर्मकरणाय प्रयत्नाः जाता तैश्च तेषां दुरदृष्टानि उत्पादितानि, तदनन्तरं ब्रह्माण्डनाशो जातः, तत्र निरुक्तदुष्कर्मकर्तॄणां सुखानि मा भवन्तु इति तादृशदुरदृष्टानामपि निरुक्तब्रह्माण्डनाशे प्रयोजकत्वमवश्यमङ्गीकार्यमिति तादृशब्रह्माण्डनाशे निरुक्तदुरदृष्टद्वारा तेषाम्प्रयत्नप्रयोज्यत्वं निरुक्तब्रह्माण्डनाशस्येति तादृशविशेषणानुपादाने स्फुटमेव सिद्धसाधनत्वम् । तद्वारणायादृष्टमद्वारीकृत्य इति विशेषणमुक्तमिति ध्येयम् ।

पञ्चममनुमानं दर्शयति—"पञ्चमञ्चेति" । अयं भावः, सामान्यतो वाग्व्यवहारो लिप्यादिव्यवहारो वा स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तः व्यवहारत्वात् चैत्रतद्विशेषक्षणप्रयुक्तापूर्वव्यवहारवत् इत्यनुमानशरीरम् । तत्र सृष्ट्यादिकाले यो वाग्व्यवहारो लिप्यादिव्यवहारो वा स च न चैत्रादीनां सम्भवतीति परिशेषात् ईश्वरीयव्यवहार एव तदानीमङ्गीकर्तव्यः, तद्व्यवहारप्रवर्तकत्वेन ईश्वरसिद्धिरिति भावः । सर्गादौ व्यवहारप्रवर्तनाय मनुष्यादिशरीरं धृत्वा एकशरीरविशिष्टेन 'जलाहरणाय घटमानय' इत्युच्चारिते तथाविधशरीरान्तरवता भगवता घटमानीय जलाहरणमभिचकार—इत्येवं रूपेणैव व्यवहारप्रवर्तनम् । तत्र घटानयने जलाहरणे वा या प्रवृत्तिः यत्नविशेषः स एव व्यवहार इत्याशयः । अत्र स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वं सजातीयप्रयत्नदर्शना-

मर्थोऽनेनेति पदं वृद्धव्यवहार उच्यते। स च वाग्व्यवहारो लिप्यादिव्यवहारो वा स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तो व्यवहारत्वात्। स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वं च सजातीयव्यवहारदर्शनाप्रयोज्यव्यवहारजातीयत्वम्। दृष्टान्तश्च चैत्रबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तापूर्वव्यवहारः। यद्यपि व्यवहारः प्रवृत्तिरूपः, तस्य सजातीय-

---

प्रयोज्यकिञ्चित्प्रयत्नसजातीयत्वम्। ईश्वरप्रयत्नस्य नित्यत्वात् सजातीयप्रयत्नदर्शनाप्रयोज्यत्वं सुतरामेवास्ति। सामान्यतः प्रयत्नत्वेन जन्यप्रयत्नसजातीयमप्यस्ति—इति सर्गादिकालीनभगवत्प्रवर्तितव्यवहारे स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वरूपसाध्यसिद्धिः सर्गादौ या प्रवृतिः व्यवहारात्मकप्रयत्नः स च चैत्रादीनां तदानीं न सम्भवतीति तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः।

उक्तानुमानं शिथिलीकृत्य अनुमानान्तरोपन्यासाय भूमिकामाह "व्यवहारः प्रवृत्तिरूपः" इति तथा च बालकस्य स्तन्यपाने या प्रवृत्तिः सा च सजातीयप्रयत्नदर्शनाप्रयोज्यप्रयत्नसजातीया भवतीत्यंशतः सिद्धसाधनम्। तत्तत्पुरुषीयप्रवृत्तौ भिन्नं-भिन्नं वैजात्यं प्रकल्प्य तादृशवैजात्यविशेषरूपेणैव प्रकृते साजात्यविवक्षणमङ्गीकृत्य सर्गादिव्यवहारत्वेन पक्षत्वमङ्गीकृत्य सिद्धसाधनत्ववारणेऽपि ईश्वरप्रयत्नस्यैकत्वात् तत्र वैजात्यविरहात् आधुनिकचैत्रादिप्रवृत्तिवैजात्यस्य तत्रासम्भवाद् बाधः। इदमुपलक्षणं सामान्यतो व्यवहारत्वेन पक्षत्वे सर्गकालीननवीनव्यवहारमात्रमादाय अंशतः सिद्धसाधनं बोध्यम्।

ननु स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वलक्षणेऽपि अग्रिमसजातीयत्वभागमपहाय सजातीयव्यवहारदर्शनाप्रयोज्यव्यवहारत्वमात्रं तदपि स्वतादात्म्यसजातीयव्यवहारदर्शनप्रयोज्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकव्यवहारत्वोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वमेव तत्। सर्गादौ च श्रीभगवत्प्रवर्तितव्यवहारे द्वितीयसम्बन्धस्य व्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावघटितत्वात्

प्रयत्नदर्शनाप्रयोज्यकिञ्चित्प्रयत्नसजातीयत्वसत्त्वात् सिद्धसाधनम्, प्रवृत्तित्वावान्तरजात्या साजात्यविवक्षणे ईश्वरप्रयत्नवैलक्षण्याभावाद् बाधः, किञ्च प्रवृत्तित्वावान्तरवैलक्षण्ये मानाभावः चेष्टावैलक्षण्यादेव विलक्षणघटादिकार्योपपत्तेः विलक्षणचेष्टासाध्यकप्रयत्नाद् विलक्षणचेष्टानामप्युपपत्तेः। तथापि लिप्यनुकूला चेष्टा स्वसजातीयदर्शनाप्रयोज्यप्रयत्नजन्यसजातीया चेष्टात्वात् चैत्रीयबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तापूर्वचेष्टावत्। साजात्यं च चेष्टात्वावान्तरजात्या, नहि सर्वा विजातीया चेष्टा घुणाक्षरन्यायेन चैत्रादिबुद्धिवैलक्षण्येन वा संभवतीति न सिद्धसाधनम्, अवच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वादिति ॥५॥

निरुक्तोभयसम्बन्धेन तथात्वमक्षतमेव। चैत्रीयबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तो यो व्यवहारः तस्य सजातीयोऽग्रिमजायमानव्यवहारस्तद्दर्शनप्रयोज्यत्वमक्षतमेवेति न सिद्धसाधनम् न वा बाधः इत्यतआह–"किञ्चेति"। तथा च सर्वमेतत्प्रवृत्तिगतवैजात्यमङ्गीकृत्य प्रकृतिनिर्वाहः तदेव न मन्तव्यं प्रमाणाभावादितिभावः। ननु कार्यवैलक्षण्यमेव वैजात्यकल्पने मानमत आह 'चेष्टावैलक्षण्यादिति"। न च चेष्टावैलक्षण्यार्थमेव प्रयत्नगतवैजात्यमङ्गीकार्यमिति वाच्यं, कार्योत्पादकसमवायिकारणनिमित्तकारणवैलक्षण्यादेव चेष्टावैलक्षण्यसम्भवात्। यथा मृत्तिकादण्डचक्रादिसमवधाने घटं कर्तुं कुलालस्य विलक्षणैव चेष्टा, तुरीवेमातन्तुसमवधाने पटार्थं तन्तुवायस्य च विलक्षणव चेष्टेत्याशयः। किञ्चानुभवसिद्धकुलालस्यैकप्रयत्नेनैव घटशरावयोः यत्रोत्पत्तिः कुत्रचित्तयोरुत्पादकः पृथगेव प्रयत्न इति प्रयत्नगतवैजात्यस्य कार्यवैलक्षण्यानुरोधेन अङ्गीकारे साङ्कर्यस्याऽपि सम्भव इति ध्येयम्।

इत्थं च निरुक्तानुमानं न युक्तियुक्तमतोऽनुमानान्तरमाह तथापीति। लिप्याद्यनुकूलचेष्टा सजातीयदर्शनाप्रयोज्या या प्रयत्नजन्य-

सजातीया सा चेष्टात्वात् चैत्रीयबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तापूर्वचेष्टावत् इत्यनुमानशरीरम्। तथा च सर्गाद्यकालीनलिपिचेष्टा यतस्तादृशी प्रथमा चेष्टा अतः सजातीयदर्शनाप्रयोज्या प्रयत्नजन्या या सर्गकालीना लिपिचेष्टा तत्सजातीयाऽपि भवतीति सर्गाद्यकालीनलिपिचेष्टा न चैत्रादीनां सम्भवतीति। न च लिप्यानुकूलचेष्टा सजातीयदर्शनाप्रयोज्यचेष्टा सजातीया चेष्टात्वात् इत्यनुमानमङ्गीक्रियताम् प्रयत्नजन्यत्वभागमनर्थकमिति तादृशचेष्टाश्रयत्वेनैव च ईश्वसिद्धिरपि कर्त्तव्येति वाच्यम्, चेष्टायाः शरीरधर्मत्वात् तदाश्रयत्वं तदवतारपरिगृहीतशरीरे न तु परमेश्वरे चेष्टायाः क्रियारूपतया विभौ भगवति क्रियाया अनङ्गीकारात्। न च साध्यांशे प्रयत्नजन्यत्वविशेषणमनर्थकमिति वाच्यम् साध्यांशे स्वरूपकीर्त्तनरूपविशेषणदानेऽपि दोषाभावात्। अत एव प्रमेयधूमत्वकम्बुग्रीवादिमत्त्वेन साध्यतायां निबन्धकारस्वीकार इति ध्येयम्। तत्तदवतारादौ धृतशरीरस्य भगवतो यथा शरीरं जन्यं तथा तच्छरीरसहकारेण कृताश्चेष्टा अपि जन्याः। तासु तत्तदात्मभेदेन विलक्षणकार्यानुकूलसम्पत्तये च वैजात्यसिद्धिरिति भगवच्चेष्टास्वपि वैजात्यसिद्धौ बाधकाभावः। इत्थञ्च चेष्टायां पुरुषभेदेन कार्यभेदेन च वैजात्यमङ्गीकर्तव्यम्। यथा कुलालस्य घटानुकूला चैत्रीया (विजातीया) एव चेष्टा। एवं शरावाद्यनुकूलार्थं (श्च)। न च सकलकुलालेषु घटानुकूलाश्चेष्टा एकजातीया एव कथन्नाङ्गीक्रियन्ते इति वाच्यम्, चैत्रीयत्वादिना सांकर्यापत्तेः। तथा हि चैत्रीयत्वाभाववत्यां मैत्रनामककुलालवृत्तिघटानुकूलचेष्टायां घटानुकूलचेष्टावैजात्यं, तादृशवैजात्याभाववति चैत्रनामककुलालवृत्तिशरावाद्यनुकूलचेष्टायां चैत्रीयत्वमस्ति— इति परम्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् एकाधिकरणे चैत्रनामककुलालवृत्तिघटानुकूलचेष्टायां तादृशघटानुकूलचेष्टात्वरूपवैजात्यचैत्रीयत्वोभयोः सामानाधिकरण्यमिति। न चैककुलालगतघटानुकूलशरावानुकूलचेष्टासु कार्यानुकूलचेष्टात्वरूपवैजात्यमेकमेवाङ्गीकार्यम्। एवं शरावानुकूलचेष्टास्वप्येकमेव लाघवात् इति वाच्यम्, घटकार्यंप्रति विजातीयचेष्टात्वेन कार-

षष्ठञ्च प्रत्ययपक्षकम् । तथाहि प्रत्ययः प्रामाण्यजनकता-सम्बन्धेन प्रमेति यावत् । तथा च सर्गाद्यकालीनवेदवाक्यजन्या

णता । एवं शरावादिकायेऽपि इति विलक्षणकार्यजनकतावच्छेदकस्य कार्य-भेदेन नानावैजात्यस्यैव सिद्धेः । अन्यथा घटानुकूलचेष्टातोऽपि शरावादिजन-नापत्तिरिति दिक् ।

इत्थं च यत्र गुरुलिपिचेष्टां समीक्ष्य छात्रेण या लिपिः क्रियते तत्र छात्रगतलिपिचेष्टायामपि सजातीयचेष्टादर्शनाप्रयोज्यत्वं प्रयत्नजन्यसजातीयत्वमस्त्येव । गुरुवृत्तिलिपिचेष्टायाः छात्रवृत्तिलिपिचेष्टासजातीयत्वाभावात् तत्तत्पुरुषचेष्टासु भिन्नस्यैव वैजात्यस्य कल्पनात् इति चेष्टात्वावच्छेदेनैव साध्यसिद्धिरिति भावः । ननु सर्गाद्यकालीना अक्षरलिपिचेष्टा घुणाक्षरन्यायेन तदानीन्तने पुरुषे जाता सर्गमध्यकालीना च देवदत्तादिबुद्धिवैलक्षण्येन जाता इति तास्वेव चेष्टासु सजातीयदर्शनाप्रयोज्यप्रयत्नजन्यसजातीयत्वरूपसाध्य-सिद्धिरबाधितैव भवति, श्रीमद्भगवदनङ्गीकारेऽपि इत्यवच्छेदकावच्छेदेनैव सिद्धसाधनमत आह--"नहि सर्वा विजातीया इति" । अयमाशयः सर्गाद्यकालीना लिप्यनुकूलाः धटपटादिनानाविधकार्यानुकूलाः विजातीयचेष्टाः न घुणाक्षर-न्यायेन सर्वाः सम्भवितुमर्हन्ति—इति सर्गाद्यकालीनतत्तत्कार्यानुकूलचेष्टा-प्रयोजकप्रयत्नाश्रयत्वेन ईश्वरसिद्धेः । सर्गादौ व्यवहारप्रवर्तनाय शरीर-विशेषं धृत्वा तथाविधशरीरवता श्रीभगवता तत्तत्कार्याणि क्रियन्ते व्यवहाराश्च प्रवर्तन्ते । तदानीं चैत्रादीनां तत्तत्कार्यकर्तृत्वं व्यवहारप्रवर्तनं वा न सम्भवतीति निरुक्तानुमानेनापि ईश्वरसिद्धिरबाधिता इति भावः । सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे चैत्रादिबुद्धिवैलक्षण्यप्रयुक्तविजातीय-चेष्टासु सामानाधिकरण्येन सिद्धसाधनरूपदोषः स्यात् अत आह—"अवच्छेदकावच्छेदेनेति" । तथा च अवच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धौ सामानाधिकरण्येन सिद्धसाधनं न दोषाय, इति मतं चतुरस्रमिति ध्येयम् ।

षष्ठमनुमानं दर्शयति "षष्ठञ्चेति" । प्रत्ययः प्रमा । तथा [1]चाचार्य-

---

१. उदयनाचार्यः ।

शाब्दप्रमा वक्तृवाक्यार्थयथार्थज्ञानजन्या शाब्दप्रमात्वात् इत्यनुमानाज्जीवानां तथाविधवक्तृत्वाभावात् परिशेषादीश्वरमेव यथार्थवाक्यार्थज्ञानं सिद्ध्यति। शब्दवृत्तिजनकतासम्बन्धेन शाब्दप्रमां प्रति शब्दवृत्तिजन्यतासम्बन्धेन प्रमायाः कारणत्वम् अत्रानुकूलतर्कमूलमिति ॥६॥

सप्तमञ्च श्रुतिपक्षकम्। तथा हि वेदाः पौरुषेयाः वेदत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घट इति व्यति(रे)किणा जीवबोधसहकारादनादिनिधनचैतन्यसचिवश्चतुर्वेदी वक्ता सिद्ध्यति ॥७॥

अष्टमं च वेदपक्षकमेव वाक्यत्वहेतुकमन्वयि ॥८॥

कारिकायां प्रत्ययपदस्य भावप्रधाननिर्देशात् प्रत्ययतः प्रत्ययत्वादित्यर्थः। वक्तृयथार्थज्ञानजन्यं वक्तुर्यच्छक्तियथार्थज्ञानं तज्जन्या बोधे प्रमा भवति। वक्तुरेव यत्र शक्तिभ्रमस्तत्र यथार्थशाब्दबोधो न भवति। अप्रज्ञोन्मत्तप्रलपितवाक्यतो न यथार्थशाब्दबोधः। यथा वा पाककर्त्तुर्घटशब्दस्य वह्नौ शक्तिभ्रमः तेन च वह्नीतरसकलपाकसामग्रीसमवधाने वाक्यार्थबोधो यदि प्रकरणप्रस्तावेन वह्निविषयको जातः स एव भ्रमः तेन शिक्षितशिष्यादेः सर्वथैव वह्निपदेन घटबोध इति वक्तुः शक्तियथार्थज्ञानमेव भवति यथार्थशाब्दबोधजनकमित्यर्थः। ननु सर्गाद्यकालीनवेदवाक्यजशाब्दबोधे तत्रास्तु साध्यम्, मास्तु गवि इति व्यभिचारशङ्कायामाह–"अनुकूलं[1]तर्कमूलमिति"। तथा च शाब्दप्रमात्वं यदि वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानजन्यत्वव्यभिचारि स्यात् तदा तादृशज्ञानजन्यतावच्छेदकं न स्यात्। तत्राप्यन्यथोद्भावने स्वक्रियाव्याघात इति तर्केण यथा व्यभिचारशङ्कानिवृत्तिः तथा प्रदर्शितमर्वाक्।

सप्तममनुमानमाह—"सप्तमञ्चेति"। पौरुषेयाः पुरुषोच्चरिताः "यन्नैवमिति"—यो न पुरुषोच्चरितः स न वेदः यथा घटः, इदं व्यतिरेकानुमानम्। अन्वयानुमानमष्टममाह—"अष्टममिति।" तथा च वेदाः

---

१. समवायेन सार्थकशब्दं प्रति कण्ठताल्वाद्यभिघातादिद्वारा तत्तदर्थविषयज्ञानतत्समवेतप्रयत्नत्वेन कारणतेति कार्यकारणभाव एवानुकूलतर्कमूलमिति ध्येयम्।

नवमञ्च संख्यापक्षकम् । तथा हि द्व्यणुकपरिमाणं तावत् परमाणुपरिमाणादधिकम् । तच्च न परमाणुपरिमाणजन्यं परिमाणस्यस्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमेनाणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात् । तस्मात्परमाणुद्वित्वमेव द्व्यणुकपरिमाणजनकम्, तच्च द्वित्वमपेक्षाबुद्धिजन्यमेकत्वान्यसंख्यात्वादित्यनुमानादैश्वरी-(य)सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकपरिमाणजनकद्वित्वजनिका सिद्ध्यत्यपेक्षाबुद्धिरिति ।

अत्र वदन्ति---जन्यभावे न सामान्यतः साक्षात्कारस्य कार-

पुरुषोच्चरिताः वेदत्वात् चैत्राद्युच्चरितवाक्यवत्। उभयत्रैव वेदे निर्माणकर्तृत्वमस्मदादीनां न सम्भवतीत्यतीतबोधसहकारेणानादिनिधनचैतन्यसचिवस्त्वेक एव श्रीमदीश्वरस्तत्तद्वेदी वक्ता सिध्यतीति भावः।

नवममनुमानं दर्शयति--"नवममञ्चेति।" तत्र प्रथमं द्व्यणुकपरिमाणे परमाणुगतद्वित्वजन्यत्वं साधयित्वा तादृशद्वित्वरूपां संख्यां पक्षयित्वा अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वं साधयति "तथा हि" इति। "एकत्वान्यसंख्यात्वादिति"—चैत्राद्यपेक्षाबुद्धिजन्यघटपटादिगतद्वित्वादिर्दृष्टान्तः। ईश्वरीयसर्गादौ चैत्राद्यपेक्षाबुद्धेरसम्भवात् तदानीमैश्वरी एवापेक्षाबुद्धिः सिध्यतीति तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः। एवं विधैर्नवभिरनुमानैरास्तिकशिरोमणयः सूक्ष्मधियो नैयायिकाः श्रीमन्तं भगवन्तं साधयन्ति। तत्र नास्तिका यथा यथा वितर्कयन्ति, शिष्याणां बुद्धिवैशद्याय तन्मतजातानि पराजेष्यन्त इति फलाय च तथा प्रदर्शयति—"अत्रवदन्तीति"। नास्तिका इति शेषः। प्रथमानुमानं खण्डयितुमुपन्यस्यति—"जन्यभाव इति"। तथा च समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति विषयतया उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणतेति कार्यकारणभावं स्वीकृत्य प्रथममनुमानं प्रदर्शयति, तच्च न सम्भवति उक्तकार्यकारणभावस्य व्यभिचारशङ्कानियतत्वेन अप्रमाणत्वात्। ननु घटपदादिस्थले शतशो दृष्टस्य

णत्वं प्रयत्नेच्छयोर्वा प्रमाणाभावात् । चेष्टादिनान्यथासिद्धेः, व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिरिति प्रवादस्तु यत्र व्यापारिकारणतां विना व्यापारासिद्धिस्तद्विषयक एव । न च गुणादौ जन्यभावत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नाभावप्रयोज्या कार्यमात्रवृत्तिधर्मावच्छिन्नाभावाधिकरणतात्वादित्यनुमानात्

उपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणत्वस्य अपलापयितुमशक्यतया कार्यकारणभावमूलकानुकूलतर्केण व्यभिचारशङ्काया निरस्तत्वाच्च कथन्न सप्रमाणमित्यत आह "चेष्टादिनेति ।" तथा चान्यथासिद्धयैव तादृशकार्यकारणभावोऽप्रयोजक इति भावः । ननु चेष्टायाः कर्तृसाक्षात्कारस्य व्यापारतया व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिर्भवितुमर्हतीन्यत आह—"व्यापारेणेति" । यत्रेति—तथा च स्वर्गकामः अश्वमेधेन यजेतेत्यादौ यागस्य साक्षात्कारणत्वस्वीकारे यागकर्त्तुर्विद्यमानशरीरध्वंसकाले भाविस्वर्गस्याव्यवहितपूर्वक्षणे यागस्यासत्वात् कारणत्वमेवासिद्धं स्यादित्यदृष्टं द्वारीकृत्य यागस्य कारणताङ्गीक्रियते । तत्र कारणतानियामकसम्बन्धोऽपि स्व··················मेव, तत्र व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिरित्याशयः । उपादानप्रत्यक्षस्य कारणत्वे चेष्टाया व्यापारत्वं तु नावश्यकम् । साक्षादेव द्वयोः कारणत्वेऽपि न क्षतिः । तथा चोपादानप्रत्यक्षं न जन्यकृत्यजन्यजन्यभावे कारणम् । न वा तादृशोपादानप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिः स्यादेवति भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिरिति न्यायसंघटनं कथं न प्रकृत इति वाच्यम्, जन्यकृत्यजन्यजन्यभावः चेष्टायाः प्रयत्नश्च ज्ञानजन्यः जन्यकृत्यजन्यभावत्वात् उड्डीयमानकाके निर्वाति वा तालपतनवदित्यनुमानेन तस्य सत्प्रतिपक्षकरनियतत्वात् । उपादानप्रत्यक्षस्य कारणता युक्त्यन्तरेण सम्पादयति—"न चेति ।" जन्यभावेति—एतावता कार्यमात्रवृत्तीति । मात्र पदानुपादाने कार्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाभावाधिकरणतात्वमेव यदि हेतुः स्यात् तदा सामान्यादौ या समवेतत्वावच्छिन्ननिरूपकताकाधिकरणत्वाभावाधिकरणता

सा न कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ननिरूपकताकाधिकरणत्वाभावप्रयोज्या, सामान्यतः समवेतत्वावच्छिन्नं प्रति कस्याप्यकारणत्वादिति निरुक्तहेतुर्व्यभिचारि स्यादतो मात्रपदम् । तथा च समवेतत्वं न कार्यमात्रवृत्ति धर्मत्वाभावान्न तदवच्छिन्नाधिकरणत्वाभावमादाय प्रकृते व्यभिचार इति भावः । 'जन्यतावृत्तीति" एतावता समवायेन जन्यभावं प्रति समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन ईश्वरसाक्षात्कारः कारणम् । किंविषयकसाक्षात्कार इति जिज्ञासायामुदासीनजन्यभावस्य तत्र समवायेन असत्वात् परिशेषात् जन्यभावसाक्षात्कार एव कारणम् यथा कपाले घटात्मकजन्यभावं प्रति घटविषयक ईश्वरसाक्षात्कारः, तन्तौ पटं प्रति पटविषयकः, सर्गादौ परमाणौ द्वयणुकं प्रति द्वयणुकविषयकसाक्षात्कारो हेतुर्वाच्यः । यत्र यो भावः समवायेन जायते तस्मिन् धर्मिणि समवायेन तत्प्रकारक ईश्वरसाक्षात्कारो भवत्येव, तस्य च सन्मात्रविषयकत्वात् । न च यस्मिन् धर्मिणि यो भावः समवायेन जायते तद्धर्मिणि तद्धर्मप्रकारक ईश्वरसाक्षात्कारः कल्प्यताम्, किन्तु उक्तरूपेण कार्यकारणभावस्तु कथमपि न सम्भवति, कार्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कार्योत्पत्तिप्राक्क्षणे कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन कारणसत्त्वमावश्यकम् । इत्थञ्च घटोत्पत्तेः प्राक् तद्घटनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन नित्यस्यापि ईश्वरसाक्षात्कारस्य कपालादावसत्त्वात् । अन्यथा तदानीं निरुक्तसम्बन्धेन श्रीमद्भगवत्साक्षात्कारस्य तत्र सत्त्वाङ्गीकारे तस्य भ्रमत्वापत्तिः, नो चेत् घटोत्पत्तिपूर्वक्षणे जायमानस्य समवायेन घटवत्कपालमित्यादि चैत्रसाक्षात्कारस्यापि प्रमात्वं स्यादिति वाच्यम्, सम्बन्धसत्ताधीना सम्बन्धिनः सत्तेति न्यायसिद्धान्तः । प्रकृते सम्बन्धस्य स्वीयजन्यभाववृत्तिसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतारूपा साऽपि विशेष्यतास्वरूपसम्बन्धविशेषात्मिका ज्ञानस्वरूपैवाङ्गीक्रियते, विषयस्वरूपत्वे गौरवात् । तथा चेश्वरज्ञानस्य नित्यतया तदीयविशेष्यताया अपि नित्यत्वात् घटोत्पत्तिपूर्वक्षणे सम्बन्धसम्बन्धिनोर्द्वयोस्तत्राबाधितत्वात् भ्रमत्वापत्तिदानस्य वक्तुमशक्य-

जन्यभाववृत्तिसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकेश्वरसाक्षात्काराभावप्रयोज्यतापर्य-वसन्ना साध्यमाना प्रयोज्यता सिद्ध्यत्यन्यबाधादिति वाच्यम्, नीलघटत्ववज्जन्यभावत्वस्यार्थसमाजग्रस्तत्वात्। कार्यतावच्छेद-कताग्राहकप्रमाणशून्यत्वमेव वार्थसमाजग्रस्तत्वं गुणादौ जन्य-

---

त्वात्। चैत्रादिसाक्षात्कारस्य विशेष्यताया ज्ञानस्वरूपत्वे चैत्रमैत्रादिनाना-जीवगतविषयसमानसङ्ख्यकस्य एकविषयकस्य वारं वारं साक्षात्कारस्य सम्भवेन विषयाधिकतया तदीयविशेष्यताया ज्ञानस्वरूपत्वानङ्गीकारात् वि-षयस्वरूपत्वमेवाङ्गीक्रियते इति घटोत्पत्तेः पूर्वक्षणे घटात्मकत्वप्रकारताया असत्त्वेन, तन्निरूपितत्वविशिष्टविशेष्यताया अपि तत्रासत्त्वात्सम्बन्धसत्ताऽ-भावेन सम्बन्धिनोऽप्यभावाद् भ्रमत्वं युक्तमित्यवधेयम्।

अयन्तु कार्यकारणभावः प्रथमानुमानोक्तोपादानप्रत्यक्षत्वेन कारण-त्वघटितो न, किन्तु अतिरिक्त एव। अत एवेश्वरसाक्षात्कारप्रयोज्यता पर्य-वसन्नेत्युक्तिः सङ्गच्छते। एतावतोक्तकार्यकारणभावेनापीश्वरसिद्धि-रित्याशयः।

उक्तशङ्कां निरस्यति "नीलघटत्ववदिति"। यथा दण्डस्य कपालस्य वा घटत्वावच्छिन्नं प्रति एव कारणता न तु नीलघटत्वावच्छिन्नं प्रति, दण्डत्वेन नीलघटत्वेन कार्यकारणभावसाधकप्रमाणशून्यत्वात्। तथैवात्रापि-जन्यभावत्वेन जन्यभावसाक्षात्कारग्राहकप्रमाणशून्यत्वात् प्रकृते दर्शित-कार्यकारणभावस्यार्थसमाजग्रस्तत्वम्भवत्येवेत्याशयः। ननु गुणादौ जन्यभावत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणतैव निरुक्तकार्यकारणभावग्राहक-प्रमाणमस्तीत्यत आह—"गुणादाविति"। गुणादिवृत्तिभावे जन्यत्वाभावा-देवेति। तथा च विशेषणविशेष्योभयाधिकरणताप्रयोज्या विशिष्टाधिकरणता तदुभयाभावाधिकरणताप्रयोज्या च विशिष्टाभावाधिकरणतेति नियमात्।

भावत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणता, गुणादिवृत्तिभावे जन्यत्वाभावादेवोपपन्ना। आस्तां वा जन्यभावं प्रति तादात्म्येन द्रव्यस्य कारणता। द्रव्यभेदादेव च जन्यभावत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणता चोपपन्ना द्रव्यजन्यतावच्छेदकं जन्यभावत्वं जन्यसत्त्वं वेत्यन्यदेतत्। जन्यसत्त्वस्य जन्यतावच्छेदकत्त्वेऽपि तस्य जन्यभावत्वव्यापकतया जन्यसत्त्वावच्छिन्नाभावे सिद्धे तेनैव जन्यभावत्वावच्छिन्नाभावस्यापि सिद्धिः।

यथा द्रव्ये गुणकर्मान्यित्वविशिष्टसत्ताधिकरणता, गुणे च गुणकर्मान्यित्वविशिष्टसत्ताभावादिकरणता तथात्रापीति भावः। नन्वेतावता गुणादौ जन्यभावाधिकरणतासत्वे काचन युक्तिः प्रदर्शिताऽभवत्, परन्तु कार्याभावाधिकरणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नकारणाभावाधिकरणताप्रयोज्येति कथितानुमानस्य विषयपूर्त्तिर्न जातेत्यताह—"आस्तां वेति"। तथा च समवायेन जन्यभावं प्रति द्रव्यस्य कारणत्वमङ्गीकृत्य प्रकृतानुमानस्य विषयपूर्त्तिः सम्भवतीति भावः।

ननु जन्यसत्वावच्छिन्नं प्रत्येव तादात्म्येन द्रव्यत्वेन कारणतास्तु, भावत्वापेक्षया सत्वस्य लघुत्वादिति। जन्यभावत्वं कार्यतावच्छेदकमेव नेति कथं दर्शितानुमानस्य विषयपूर्त्तिरत आह "जन्यसत्त्वस्येति"। तथा च व्यापकधर्मावच्छिन्नाभावाधिकरणताप्रयोज्या व्याप्यधर्मावच्छिन्नाभावाधिकरण--ता भवतीति सिद्धान्तात् कारणतावच्छेदकीभूतद्रव्यत्वावच्छिन्नतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रयोज्यजन्यसत्त्वावच्छिन्नाभावाधिकरणता तत्प्रयोज्या जन्यभावत्वावच्छिन्नाभावाधिकरणतेति परम्पराप्रयोज्यप्रयोजकभावाद् विषयसिद्धिरिति भावः।

जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति सामान्यतः साक्षात्कारत्वेन या कारणता

किञ्च क्वचिद्दर्शनमात्रेणैव यदि जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति सामान्यतः साक्षात्कारत्वेन कारणताभेदाच्चाक्षुषत्वद्वाग्त्वादिनापि न कुतः सामान्यतः कारणता यदि जन्यतावच्छेदकसाक्षात्कारत्वे जन्यत्वविशेषणवत् चक्षुरादिजन्यतावच्छेदकचाक्षुषत्वाभावेऽपि जन्यत्वविशेषणसम्भवात् तद्बलाच्चाक्षुषत्वादिकमपीश्वरे सिद्ध्येत् पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्ण इत्यादि श्रुतेर्बलस्य

निरुक्ता तां प्रतिवन्दिदानेन दूषयति "किञ्चेति"। "क्वचिदिति"। तथा च सामान्यतः जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति चाक्षुषत्वेन त्वाचत्वेन कारणता स्यात् न तु सामान्यतः। चाक्षुषत्वादिना कारणत्वे सत्त्वादौ द्वयणुकरूपभावारम्भे तदानीं चैत्रादीनां चाक्षुषासम्भवात् चाक्षुषसाक्षात्कारस्य चक्षुर्जन्यतया ईश्वरे तत्स्वीकारासम्भवात् तत्रैव व्यभिचार इत्यत आह–"बाधादीति"। इत्थञ्च यथा सामान्यतः साक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रति बाधनिश्चयाभावत्वेन कारणत्वे ईश्वरज्ञानमपि साक्षात्कारात्मकमेवेति कार्यतावच्छेदकधर्मस्यातिप्रसक्ततया उक्तरूपेण कार्यकारणभावस्य स्वीकर्त्तुमशक्यतया जन्यसाक्षात्कारत्वावच्छिन्नं प्रत्येव बाधनिश्चयाभावत्वेन कारणता तथात्रापि ईश्वरे चाक्षुषस्वीकारे सामान्यतः चाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगत्वादिना कारणत्वकल्पने कार्यतावच्छेदकातिप्रसङ्गभयेन जन्यचाक्षुषत्वावच्छिन्नं प्रति चक्षुःसंयोगत्वेन कारणता। तथा चेश्वरे नित्यचाक्षुषज्ञानस्वीकारोऽपि स्यात्, अत्र श्रुतोऽपि बलं दर्शयति पश्यत्यचक्षुरित्यादि। एवं रीत्या ईश्वरे चाक्षुषस्वीकारे त्वाचश्रावणप्रत्यक्षादेरप्यप्रत्यूहा सिद्धिः। तत्सिद्धौ च एकज्ञान एव चाक्षुषत्वत्वाचत्वादिस्वीकारे स्पष्टमेव साङ्कर्यं स्यादतोऽगत्या श्रीमद्भगवत्यपि नानाज्ञानसिद्धिरिति न्यायसिद्धान्तविरोधः प्रत्युतापसिद्धान्तसिद्धिरित्यपसिद्धान्ताभिधनिग्रहस्थानं नैयायिकानामित्याशयः।

निरुक्तमेव कार्यकारणभावं सम्भवत्प्रतिवन्द्यन्तरदानेन दूषयति-

सम्भवात्। साङ्कर्यभयान्नैकमपीश्वरज्ञानमिति तार्किकशिरोमणेस्तवापसिद्धान्ताभिधं निग्रहस्थानं को वारयेत्।

किञ्च वह्न्यादेरपि न कुतः सामान्यतः कार्यसामान्ये कार-

"किञ्च बह्न्यादेरिति"। अयमाशयः कुत्रचिज्जन्यजनकभावदर्शनमात्रेण यदि जन्यभावं प्रति सामान्यतः साक्षात्कारस्य कारणता स्वीक्रियेत तदा धूमस्यापि जन्यभावे वह्नेः कारणत्वदर्शनेन जन्यभावसामान्य एव वह्नेः कुतो न कारणाता ? इत्थञ्च सिद्धे च कारणत्वे यत्र घटादिरूपजन्यभावोत्पत्तिः द्वयणुकादिरूपो वा तत्रापि कार्यहेतुककारणानुमानेन वह्निः सेत्स्यति। ननु घटादिस्थले कार्येणान्वितवह्निर्यद्यस्ति तदा कुतो नोपलभ्यते अत आह- "अन्तत इति"। तथा च तत्र योग्यवह्नेः सत्त्वस्य स्वीकर्त्तुमशक्यतया जन्यभावात्मककार्यहेतुकानुमितौ इतरबाधसहकारेणातीन्द्रियवह्नेः सिद्धिरिति ध्येयम्।

न चैतावता जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति सामान्यतः साक्षात्कारत्वेन कारणता निरस्ता भवतु, परन्तु प्रथमानुमानघटकीभूता या कारणता सा तूपादानप्रत्यक्षत्वेन कारणता सा च प्रदर्शितरीत्या न निरस्तेति चेन्न, एतच्च दिक्प्रदर्शनम्, तत्रापि कुलालचेष्टया कुलालसमवेतोपादानप्रत्यक्षमन्यथासिद्धम्। जन्यकृत्यजन्यजन्यो भावः स्वोपादानगोचरज्ञानचिकीर्षाकृतिमदजन्यः जन्यकृत्यजन्यभावत्वात् अकस्माज्जातवृक्षपतनवत्, विना बीजं जाततरुवत्मयूरादिपक्षगतचित्रवदित्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षाकवलितत्वात्। उपादानविषयकचाक्षुषत्वत्वाचत्वादिनापि कारणतापाताच्च। अन्ततो भगवति चाक्षुषादिस्वीकारे न्यायसिद्धान्तविरोधेन निग्रहस्थानसम्भवात्, प्रदर्शितरीत्यातीन्द्रियवह्नेः स्वीकारापत्तेश्च साऽपि कारणता कथमपि न कल्पयितुं योग्या, यत ईश्वरसिद्धिः स्यात्। तथा च प्रथमानुमानेन नेश्वरसिद्धिरिति नास्तिकादीनां हृदयमिति ध्येयम्।

णता, अन्ततोऽतीन्द्रियवह्नेरपि कल्पनादिति न किञ्चिदेतत् । कर्मसामान्ये प्रयत्नस्य कारणत्वाभावादेव द्वितीयमनुमानमप्रयोजकम् । पृथिवीगोलस्य पतनाभावश्च पृथिवीगोलस्य वैजात्यविशेषेण पतनादिप्रतिबन्धकत्वादेवोत्पन्नः पृथिवीगोलकस्याप्यवयवोपचयापचयाभ्यां कल्पभेदेन च भिन्नतया वैजात्यकल्पने बाधकाभावात् ।

अथ ध्रुवब्रह्माण्डादौ पतनं प्रसज्येत एवं तेजस्त्वेन साङ्कर्यभयात् पृथिवीगोलवृत्तिवैजात्यस्य तत्राभ्युपेतुमशक्यत्वादिति चेन्मैवम् ध्रुवब्रह्माण्डाद्युपष्टम्भकपार्थिवभाग एव गुरुत्वेन पतनप्रसक्तेः,

---

तेषामेव मतेन द्वितीयानुमानमपि दूरीकर्त्तुमुपक्रमते—"कर्मसामान्य" इति । यथा पक्वफलं शुष्कपत्रं वृक्षात्पतति तत्र कस्य प्रयत्नः, कस्यकस्यचिद्वृक्षस्य स्वभावतः सर्वदैव कम्पक्रियास्तीति नानास्थले प्रयत्नं विना कर्मदर्शनात् कर्मसामान्ये प्रयत्नस्य कारणत्वं वक्तुमशक्यम् । न चोक्तस्थले श्रीमद्भगवतः प्रयत्नविशेषेणैव कर्मसिद्धिरिति वाच्यम्, प्रयत्नस्य क्रियां प्रति कारणत्वं प्रकल्प्य कार्येण कारणमनुमीय प्रसिद्धप्रयत्नबाधेनेश्वरप्रयत्नसिद्धिरित्ययुक्तियुक्ता प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति न्यायात् । प्रत्यक्षसिद्धप्रदर्शितव्यभिचारेण कर्मसामान्ये प्रयत्नस्य कारणत्वाकल्पनादेव तावत्पदार्थाकल्पनेन लाघवरूपफलबलस्य जागरूकत्वादिति द्वितीयानुमानेनापि नेश्वरसिद्धिरिति भावः ।

तृतीयमनुमानं दूषयति पृथिवीगोलस्येति पृथिवीत्वेन पतनप्रतिबन्धकत्वोक्तौ घटादिपतनानुपपत्तिरत उक्तं वैजात्यविशेषेणेति । शङ्कते "अथेति" । ध्रुवस्य तेजोरूपतया तत्र यदि पृथिवीवृत्तिवैजात्यं स्यात्तदा साङ्कर्यम् । ब्रह्माण्डान्तर्गतनानापदार्थेऽपि पृथिवीगतवैजात्यस्वीकारे जलादिसाधारणं तत्स्यादिति स्फुटमेव साङ्कर्यमिति भावः । समाधत्ते—"ध्रुव-

पृथिवीगोलवृत्तिवैजात्यस्य तत्राभ्युपगमेनैव निरासात्। तेजसि तद्वैजात्यानभ्युपगमेन साङ्कर्याभावात्। स्याद् वा स्थैर्यशक्ति-

---

ब्रह्माण्डेति"। अर्थात् गुरुत्ववत एव पतनं सम्भवति। ध्रुवे ब्रह्माण्डे वा पार्थिवभागो य उपष्टम्भकस्तेनैव तत्र पतनसम्भावना तत्र, पृथिवीवृत्ति-वैजात्यस्वीकारादेव न पतनमिति बोद्धव्यम्।

मृत्तिकात्वजात्या साङ्कर्यस्याशक्यपरिहारतया प्रकारान्तरेण पतना-भावं व्यवस्थापयति "स्याद्वेति"। अत एव "मृत्तिकात्वजात्यापीति"—तथा च पतनप्रतिबन्धकवैजात्याभाववति घटे कपाले च मृत्तिकात्वजातेः तदभा-ववति ध्रुवोपष्टम्भकपार्थिवभागे निरुक्तवैजात्यस्य पृथिवीगोलके च द्वयोः सत्वेन पूर्वकल्पे स्फुटमेव साङ्कर्यमिति भावः। द्वितीयकल्पेऽपि यदि स्थैर्य-शक्तिनाम्नी जातिः पृथिवीगोलके स्वीक्रियेत चेत् तदा प्रदर्शितरीत्या पुनस्साङ्कर्यं दुर्वारं स्यादिति, सा जातिः पृथिवीत्वगतैकत्वे स्वीकृता। तथा च तावतैव पृथिवीगोलकध्रुवब्रह्माण्डादीनां पतनाभाव उपपद्यते इति तदनु-रोधेनापि नेश्वरसिद्धिरिति भावः। पतनप्रतिबन्धकवैजात्यस्य पृथिव्यां तद्वृत्येकत्वे वा स्वीकारेऽपि न प्रकृते वस्तुस्थितिनिर्वाह इत्याशङ्कते "न चेति" "वाच्य" मित्यन्वयि।

तथा चाधोदेशसंयोगजनकात्मकक्रियां प्रति समवायेन पृथिवीगत-वैजात्यस्य स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन पृथिवीगतैकत्ववृत्तिवैजात्यस्य वा प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। तावता पृथिवीपतनं मा भवतु किन्तु तदवयव-पतनन्तु शक्यनिवारणमेव दर्शितसम्बन्धेन प्रतिबन्धकद्वयोरेकस्यापि तत्रा-सत्वात् पतनप्रयोजकगुरुत्वादेस्तत्र सत्त्वाच्चेति भावः। उत्तरयितुमवान्तरं शङ्कते—"नन्विति।" तथा च समवायेन पतनक्रियां प्रति समवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्वमङ्गीकृत्य पृथिव्यवयवापतनमप्युपपादयितुं शक्यत इति भावः।

नाम्नी जातिरेका। अत एव मृत्तिकात्वजात्यापि साङ्कर्यसम्भावनेत्यप्रयोजकमेव धृतिपक्षकमनुमानम्। न च भूगोलवृत्तिवैजात्येन तदेकत्ववृत्तिवैजात्येन वा प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमेऽपि भूगोलावयवानां पतनं केन वार्यताम्। न हि पतने समवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्वं निपतच्छरीरावयवे पतनानुपपत्तेः। पतनस्योत्तेजकतामभ्युपेत्यावयवावयविनोर्युगपत्पतनानुपपादनात्। युगपत्पतनानभ्युपगमे युगपदुत्तरदेशसंयोगस्यावयवायविनोः प्रत्यक्षसिद्धस्यानुपपादनादिति वाच्यम्, स्ववृत्तिपतनाभावविशिष्टक्षणा-

---

उक्तप्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावे दोषमाह—"निपतच्छरीरावयव" इति। तथा च तदानीं शरीरात्मकद्रव्यस्यैव स्वावयवे सत्त्वात्तत्पतनं न स्यादिति भावः। निरुक्तप्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावमेव समीचीनं कर्त्तुमुपन्यस्यति "पतनस्योत्तेजकतामिति"। तथा च समवायेन पतनं प्रति स्वपतनाभावविशिष्टद्रव्यस्य समवायेन प्रतिबन्धकत्वम्। इत्थं च निपतच्छरीरावयवे स्वपतनाभावविशिष्टद्रव्यात्मकप्रतिबन्धकस्यासत्त्वात्तदवयवपतनमुपपन्नमेव। पृथिव्यवयवे च स्वपतनाभावविशिष्टपृथिव्यात्मकद्रव्यस्यैव सत्त्वान्न तत्पतनप्रसक्तिररिति भावः। उक्तप्रतिबन्धकत्त्वकल्पनेऽपि न प्रकृतिनिर्वाह इत्याह—"अवयवावयविनोर्युगपत्पतनानुपपादनादिति"।

अयमाशयः—यस्मिन् क्षणे शरीरपतनञ्जायते तत्पूर्वक्षणे स्वपतनाभावविशिष्टस्य शरीरात्मकद्रव्यस्य समवायेन स्वावयवे सत्त्वान्न तत्क्षणे तत्पतनोपपत्तिः। ननु क्षणविलम्बस्य निर्णेतुमशक्यत्वादग्रिमक्षण एव तत्पतनमङ्गीक्रियतां क्षतिविरहात्, अत आह—"युगपत्पतनानभ्युपगम" इति। तथा च पतितद्रव्यतदवयवयोरेकस्मिन्नेव क्षणे जायमानस्याधोदेशसंयोगस्य प्रत्यक्षसिद्धस्यापलापापत्तिरतो नोक्तप्रतिवध्यप्रतिबन्धकभावः कल्पयितुमुचित इति भावः।

यथार्थमुत्तरमाह—"स्ववृत्ती"त्यादि। स्वं द्रव्यं तद्वृत्तिर्यत्पतनम् अधो-

वच्छिन्नसमवायेन द्रव्यस्य पतने प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमात् । पतनाभावश्च स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको

देशप्राप्त्यनुकूलकर्म तस्य यः स्वाव्यवहितपूर्वत्वम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तद्विशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। तथा च निपतच्छरीरस्य तदवयवस्य च युगपदेव पतनमुपपन्नम् तथा हि स्वं प्रकृते शरीरं तद्वृत्तिपतनस्य स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेन तत्पूर्वक्षणे सत्ता, स च क्षणः स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपतनाभावविशिष्टो न जातः। स्याच्च तथाविधस्ततोऽपि पूर्वक्षणस्तत्क्षणावच्छिन्नसमवायेन शरीरात्मकद्रव्यस्य पतनपूर्वक्षणपूर्वक्षणे सत्त्वाच्छरीरपतनपूर्वक्षणे न शरीरावयवपतनम्, शरीरपतनपूर्वक्षणस्य तु निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपतनाभावविशिष्टत्वाभावाच्छरीरपतनाभावविशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन शरीरात्मकद्रव्यस्य प्रतिबन्धकीभूतस्य पतनपूर्वक्षणेऽविद्यमानत्वात्तदग्रिमक्षणे शरीरस्य तदवयवस्य च युगपदेव पतनमुपपन्नमित्याशयः।

न चाधोदेशगमनं शरीरादीनां क्रमेण जायतेऽवान्तरसञ्चरिष्णुवाय्वादिना तेन नीयमानद्व्यणुकादिना च सह संयोगोऽनुभवसिद्धः। क्रमेण ततोऽप्यधोदेशगमनानुकूलक्रियातः पश्चात् पृथिव्यां पतति। इत्थञ्च प्रथमपतनोत्पत्तिक्षणे स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेन तत्पतनस्यासत्वात् तदभावविशिष्टः स एव क्षणो जातः, तदवच्छिन्नसमवायसम्बन्धेन शरीरस्य स्वावयवे तत्क्षणे सत्त्वात् प्रदर्शितरीत्याऽग्रिमपतनं कथमुपपन्नमिति वाच्यम्, अग्रिमपतनं यदि पूर्वपतनाश्रितत्वमनुभवसिद्धं भवेत् तदाग्रिमपतनस्यैव पूर्वपतनोत्पत्तिक्षणे स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेन सत्त्वात् न तदभावविशिष्टत्वमुक्तक्षणस्येत्यग्रिमपतनस्याप्युपपन्नत्वात्। तथा च स्ववृत्तियद्यत्पतनं तदभावकूटविशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन अथवा स्ववृत्तिपतनसामान्याभावविशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन द्रव्यस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनान्न कोऽपि दोष इति ध्येयम्।

बोध्यः । घटादिपतनाव्यवहितपूर्वक्षणेऽपि स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटादिपतनाभावविशिष्टस्थूलकालावच्छिन्नसमवायेन घटादेः सत्त्वादग्रिमक्षणे तदवयवपतनानुपपत्तेः क्षणप्रवेशः । हन्तैवं भूगोलकस्य पतनाप्रसिद्धेस्तद्घटितसम्बन्धेन भूगोलस्य स्वावयवेषु सत्त्वात् तेषां पतनं प्रसज्येत इति चेन्न, स्ववृत्तिपतनवत्त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभाव-

---

समयपदमपहाय क्षणपदप्रवेशस्य फलमाह "घटादीति"। स्वाव्यवहितपूर्वत्वञ्च स्वप्रागभावाधिकरणक्षणप्रागभावानधिकरणत्वे सति स्वप्रागभावाधिकरणत्वरूपं बोध्यम् । तथा च घटपतनाव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तस्थायी यः प्रहरात्मकस्थूलकालः तस्य पतनप्रागभावाधिकरणत्वमस्ति । स्वप्रागभावाधिकरणीभूतः यः स एव पूर्वक्षणः तत्प्रागभावाधिकरणत्वं तपूर्त्वक्षणावच्छेदेन् निरुक्तप्रहरात्मकसमयेऽस्तीति तस्य स्वप्रागभावानधिकरणत्वविरहेण निरुक्तस्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपतनाभावविशिष्टत्वमपि निरुक्तप्रहरात्मकसमयेऽस्तीति तत्समयावच्छिन्नसमवायसम्बन्धेन घटात्मकद्रव्यस्य घटपतनपूर्वक्षणे सत्त्वात् अग्रिमक्षणे घटावयवपतनं न स्यादतः क्षणपदप्रवेशः । तथा च प्रहरात्मककालस्य क्षणत्वविरहात् न तमादाय दोषः पतनपूर्वक्षणमारभ्योत्तरवर्त्तिप्रहरात्मकसमयस्य पतनपूर्वक्षणावच्छेदेन स्वाव्यवहितपूर्वत्वसत्वेन तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपतनाभाववत्वं तत्र दुर्घटमतः पतनपूर्वक्षणपर्यन्तस्थायी पूर्वप्रहरात्मकस्स्थूल एव च समयः प्रकृते ग्राह्यः। उक्तप्रतिबन्धकताकल्पनेऽपि भूगोलकस्थले प्रकृतानिर्वाहमाह "हन्तेति" । हन्तेत्यव्ययं खेदार्थकम्। एतादृशप्रयासेऽपि न प्रकृतनिर्वाहो जात इति खेदमूलम् । भूगोलकस्य पतनमेवाप्रसिद्धमिति स्वपदेन तद्धारणमसम्भवि । घटादेश्च पतनं प्रसिद्धमिति स्ववृत्तिपतनाभावविशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन तद्वत्वं घटाद्यवयवादौ, भूगोलकावयवे तु तादृशसम्बन्धेन किमपि द्रव्यं नास्तीति तदवयवपतनं स्यादेवेति भावः ।

विशिष्टक्षणावच्छिन्नसमवायेन प्रतिबन्धकत्वाभ्युपगमात् भूगोलस्य स्वप्रवृत्तिपतनत्वरूपव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव एव सम्बन्धघटकः । पतनवत्वञ्च स्वाव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेनेत्यादि स्वयमूहनीयमिति दिक् ।

संहृतिपक्षकञ्च नाशसामान्ये प्रयत्नस्य कारणत्वानभ्युपगमादेवाप्रयोजकम् । पदपक्षकमपि व्यवहारस्य स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वाभ्युपगमे प्रमाणाभावादेव अप्रयोजकम् स्वीक्रियतां वा

उत्तरयति "स्ववृत्तिपतनवत्त्वेति" । तथा च स्ववृत्तिपतनवत्वसम्बन्धः शरीरादेः प्रसिद्धः तादृशव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकभूगोलकाभावविशिष्टाः सर्वे एव क्षणाः तदवच्छिन्नसमवायेन भूगोलकस्य प्रतिवन्धकीभूतस्य सर्वस्मिन्नेव क्षणे सत्त्वात् कस्मिन्नपि क्षणे न भूगोलकावयवपतनमिति सर्वं चतुरस्रमिति ध्येयम् ।

श्रीभङ्गवत्साधकं चतुर्थं जन्यकृत्यजन्यो नाशः प्रयत्नस्यादृष्टमद्वारीकृत्य प्रयोज्यो नाशत्वादिति पूर्वोक्तमनुमानं दूषयति "संहृतिपक्षकञ्चेति" । दूषणयुक्तिमाह—"नाशसामान्य" इति । अयमाशयः यत्र झञ्झावातेन मूलरोगादिभिर्वा वृक्षपतनं तेन च तद्वृक्षतलस्थितपदार्थानां नाशः तत्र तादृशनाशे न कस्यचित् प्रयत्नस्य कारणत्वसम्भावना । तदानीं जीवात्मप्रयत्नस्य तत्राविद्यमानत्वात् भगवत्प्रयत्नस्य चासिद्धत्वाद्विवदमानत्वाद्वा अत्रैव व्यभिचारेण अनिवार्यव्यभिचारशङ्कया तादृशस्थलसहस्रेऽक्लृप्तकल्पनया महद्गौरवेण 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरमिति' न्यायेन च नाशसामान्ये प्रयत्नस्य कारणता नैवं वक्तुं योग्या । इत्थञ्च जन्यकृत्यजन्यब्रह्माण्डादिनाशजनकप्रयत्नाधिष्ठातृत्वेनेश्वरसिद्धिश्चतुर्थानुमानेनापि स्पष्टीकृता न युक्तियुक्ता भवतीति ।

पदपक्षकं पञ्चममनुमानं दूषयति "पदपक्षकमिति" । दूषणहेतु दर्शयति "व्यवहारस्येति" । ननु सर्गादौ तत्तद्व्यवहाराः केनापि सत्पुरुषेण

कश्चिज्जीव एव योगर्धिसम्पन्नः सर्गादौ व्यवहारान्प्रवर्त्तयतीति कृतमखण्डत्रैगुण्येन भगवता पुरुषोत्तमेन ।

एवं प्रत्ययपक्षकमप्यप्रयोजकम् प्रमाया गुणजन्यत्वानभ्युप-

व्यवस्थापिता नाभवन्, तदा च बुभुक्षितो जलं पिपासतु तृषार्थो वा अन्नं भोक्तुमिच्छतु इत्यादि सर्वेषु व्यहारेषु अव्यवस्था प्रसज्येत इत्यत आह— "स्वीक्रियतां वा कश्चिज्जीव एवेति"। "योगर्धिसम्पन्न इति"। तथा च योगसिद्धिसम्पन्नस्य पुरुषस्य भाविभूतयावद्पदार्थविषयकज्ञानवत्वात् पूर्वसर्गे भोजनेन बुभुक्षाशान्तिः जलपानात् तृषानिवृत्तिरित्यादि यावद्व्यवहारज्ञानवता तेनैव यावद्व्यवहारा व्यवस्थापिताः प्रचारिताश्चेति किमदृष्टनित्यज्ञानादिविशिष्टेश्वरकल्पनेनेति भावः। न च योगर्धिस्वीकारे कथमीश्वरानङ्गीकार इति वाच्यम्, योगस्य नेश्वरीयत्वेन चाधिभूतादियावद्पदार्थज्ञापकता अस्ति। यथा हि न विशेषसहकारेण प्रस्थरविशेषात्मकप्रतिचक्षुषः सहकारेण वा चक्षुषातिदूरस्थसूक्ष्मतरपदार्थानामुपलब्धिर्जायते, तथैव योगसिद्धिबलेन भाविभूतभविष्यादियावज्जगद्विषयकोलब्धिः योगिनां भवति, न तत्र कापीश्वरसहायतेति एतावतैव व्यवहारादिनिर्वाह इति पञ्चममनुमानमप्रयोजकमेवेति भावः ॥

षष्ठमप्यनुमानं प्रत्ययपक्षकं दूषयति—"एवं प्रत्ययपक्षकमप्यप्रयोजकम्" इति। दूषणे हेतुमाह—"प्रमाया गुणजन्यत्वानभ्युपगमादिति"। वक्तुर्वाक्यार्थयथार्थज्ञानमेव गुणः। यथा घटो घटपदवाच्य इति वाक्यघटकपदार्थधर्मिकशक्तिज्ञानम्। एवं प्रापणम् 'नी' धातुवाच्यम्। इत्येवं रीत्या यत्र वाक्यघटकयावत्पदानां स्वार्थधर्मिकयथार्थज्ञानमस्ति तत्रैव घटमानयेत्यादिवाक्यात्प्रमात्मकशाब्दबोधो भवति, यत्र च वक्तुरर्थादाप्तवृद्धवक्तुरेव शक्तिभ्रमस्तत्र तदुक्तवाक्यश्रवणात् श्रोतुः शक्तिज्ञानमपि भ्रमात्मकमेव प्रथमतो भवति पश्चादाप्तवाक्यश्रवणाच्च तथाविधाप्तशिक्षितानामन्येषामपि उच्चरितवाक्यश्रवणात् परस्परम् भ्रमात्मक एव शाब्दबोधो जायते ।

गमात् । तदभ्युपगमे वा शाब्दप्रमाणं योग्यताप्रमाया एव कारणत्वात् न वक्तृयथार्थज्ञानापेक्षा । सर्गादौ वेदत्ववाक्यत्वहेतुक

एवं स्वोच्चरितवाक्यश्रवणात् स्वस्मिन्नपि शाब्दबोधो जायत एव । तथा च स्वात्मकवक्तुर्यत्र शक्तिभ्रमः तत्र स्वोच्चरितवाक्यश्रवणात् भ्रमात्मकः शाब्दबोधः स्वस्मिन् स्पष्ट एवेति भावः ।

प्रमाया गुणजन्यत्वानभ्युपगमे वक्तुः शक्तिभ्रमकालीनोच्चरितवाक्यादपि भ्रमात्मकः शाब्दबोधः केन वार्यतामित्यत आह––,'तदभ्युपगमेवेति" । न च योग्यताप्रमाया गुणत्वाङ्गीकारापेक्षया वक्तुर्यथार्थज्ञानस्यैव कथन्न गुणत्वमङ्गीक्रियते इति वाच्यम्, तदङ्गीकारेऽपि यत्र वक्तुर्वह्निशब्दस्य वह्नौ ह्रदशब्दस्य च ह्रदे मत्तपद्याधिकरणत्वे शक्तिप्रमाऽस्ति तत्र तदुच्चरितवाक्यात् योग्यताभ्रमसत्वे भ्रमात्मकशाब्दबोधजननात् शक्तिप्रमाया गुणत्वाङ्गीकारस्य वक्तुमशक्यतया योग्यताप्रमाया एव गुणत्वाङ्गीकारात्, तदङ्गीकारे च वह्निमान् ह्रद इत्यादि वाक्यात् योग्यताभ्रमादेव भ्रमात्मकः शाब्दबोधः, न तु योग्यताप्रमासद्भावे तथा सम्भव इति ध्येयम् ।

सप्तममष्टमञ्चानुमानं दूषयति––"वेदत्ववाक्यत्वहेतुकमित्यादि" तत्र बीजमाह––"अनुकूलतर्काभावादेवापास्तमिति" । अयमाशयः––वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथाघटः इति सप्तमम् व्यतिरेकि । अष्टमञ्च वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् यथा घटोऽस्तीत्यादिवाक्यमित्यन्वयि । अत्रोभयत्रैव पक्षे हेतुरस्तु साध्यं मास्त्वति व्यभिचारशङ्कायां न कोऽपि तन्निवर्त्तकस्तर्कः । तथा च व्यभिचारशङ्काकवलितत्वेन उभयमेवानुमानं दूषितमिति भावः । न च वाक्यत्वं यदि पौरुषेयत्वव्यभिचारि स्यात् तदा पुरुषं विनापि वाक्यं जायतामेतादृशतर्क एवाष्टमानुमाने व्यभिचारशङ्कानिवर्त्तक इति वाच्यम्, सर्गादौ वेदसद्भावेन तत्र पुरुषासम्भवेनोक्ततर्कावतारस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् प्रत्युत सकलसर्गादौ एकाकारकश्रुतिदर्शनेन श्रुतौ नित्यत्वाव-

चानुमानद्वयमनुकूलतर्काभावादेवापास्तम् । संख्यापक्षकमपि न विचारचारु । तथा हि परमाणुद्वये तावद् द्वित्वसंख्या न केवलेश्वरापेक्षाबुद्धिजन्या भवताभ्युपेतव्या, भगवदपेक्षाबुद्धेः सार्वदिकत्वेन तस्याः सार्वदिकत्वप्रसङ्गात् । द्व्यणुकारम्भकपरमाणुसंयोगस्यापि तज्जनकत्वाभ्युपगमे किमपेक्षाबुद्ध्या । न चैकत्वान्यसंख्यात्वावच्छिन्नं प्रति एकत्वप्रकारतानिरूपितलौकिकविशेष्यतायाः

धारणेन वेदत्ववाक्यत्वात्मकहेत्वोरपौरुषेयत्वव्यभिचारनिश्चयात् अनुमानद्वयमेवाकिञ्चित्करं, जन्यवाक्यत्वे पौरुषेयत्वव्याप्यत्वस्य वक्तुं योग्यत्वेऽपि प्रकृते तस्यानुपयोगादिति दिक् ।

संख्यापक्षकं नवममनुमानं दूषयति—"संख्यापक्षकमिति" दूषणबीजं दर्शयति—"तथाहि परमाणुद्वय" इत्यादि । तथा चेश्वरीयापेक्षाबुद्धेर्नित्यत्वं द्व्यणुकस्यापि नित्यत्वम्, परन्तु द्वित्वादिसंख्यायास्तु नित्याधारत्वेऽपि नित्ययाऽपीश्वरीयापेक्षाबुद्धया जनिततया नित्यत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यतया सार्वदिकत्वप्रसङ्गादित्युक्तम् । तथा च भगवदपेक्षाबुद्धेर्निमित्तहेतुभूतायां परमाणुद्वयस्योपादाननिदानात्मकस्य नित्यतया तत्र धाराप्रवाहन्यायेन अनन्तानन्तद्वित्वादिसंख्याया उत्पत्तिप्रसङ्गः । इत्थञ्च महाप्रलयेऽपि तादृशद्वित्वाद्युत्पत्त्या जन्यभावानाधारः समयो महाप्रलय इति न्यायसिद्धान्त एव व्याहन्येतेति हृदयम् ।

एतद्भिया यदि तादृशद्वित्वोत्पत्तौ परमाणुद्वयसंयोगस्यापि हेतुत्वमभ्युपेयेत तदा स एव हेतुरस्तु, श्रीमद्भगवतोऽपेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वमफलमेव । खण्डप्रलयादौ तादृशद्वित्वोत्पत्तेरापत्तिस्तु तादृशापेक्षाबुद्धेर्हेतुत्वाङ्गीकारेऽप्यशक्यपरिहारैवेति भावः ।

द्वित्वोत्पत्तिविचारमेव सपल्लवीकरोति, न चैकत्वान्येति । लौकिकविशेष्यतयेति । इदमापाततः प्रक्षिप्तं वा, श्रीमद्भगवतो न्यायमते नित्यज्ञानमस्ति परन्तु तत्र लौकिकसाक्षात्कारत्वं प्रतिपादयितु-

मनर्हम् । षड्विधेन्द्रियसन्निकर्षजन्यज्ञानत्वं हि लौकिकसाक्षात्कारत्वं श्रीमद्भगवतो हीन्द्रियाभावात्, तदीयज्ञानस्य नित्यतया तत्र जन्यत्वस्यासम्भवाच्च । अलौकिकसाक्षात्कारत्वमपि तत्र वक्तुमयोग्यमेव तस्य नित्यतया अलौकिकसन्निकर्षजन्यत्वासम्भवात् । इत्थञ्च एकत्वान्यसंख्यात्वावच्छिन्नं प्रति एकत्वप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानस्य कारणत्वात् तत्रापि तत्सिद्धिरित्येवं पाठः समुचितः प्रतिभाति । न चैकत्वप्रत्यक्षमन्तरेणापि एकत्वस्यानुमाने शाब्दबोधे वा द्वित्वोत्पत्तिर्जायतामिति वाच्यम्, क्षतिविरहात् । गृहादौ घटं पटञ्चानुमीय आप्तवाक्यात् विज्ञाय वा अत्र घटपदौ स्त इत्यादि प्रयुञ्जते पण्डिताः । एतावता एकत्वप्रकारकानुमानादिज्ञानतोऽपि द्वित्वाद्युत्पत्तेरानुभविकत्वाच्च । न चैकत्वप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन ज्ञानमेव यदि द्वित्वोत्पत्तौ कारणं तदा केवलमयमेक इत्याकारकज्ञानादपि द्वित्वमुत्पद्यतामिति वाच्यम्, एकत्वत्वगतैकत्ववृत्तिप्रकारतावशिष्टप्रकारतानिरुपितविशेष्यताविशिष्टविशेष्यतावत्वसम्बन्धेन ज्ञानस्य कारणत्वोपगमात् । प्रथमवैशिष्ट्यञ्च स्वावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगितापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकरूपवृत्तित्वस्वभिन्नत्वस्वनिरूपकज्ञानविशिष्टज्ञाननिरुपितत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन । ज्ञाने ज्ञानवैशिष्ट्यञ्च स्वसमवायिसमवेतत्वस्वसमानकालीनत्वोभयसम्बग्धेन । विशेष्यतायां विशेष्यतावैशिष्ट्यञ्च स्वभिन्नत्वस्वानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्वस्वनिरुपकज्ञानविशिष्टज्ञाननिरुपितत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन । पुनः ज्ञानवैशिष्ट्यं स्वसमवायिसमवेतत्वस्वसमानकालीनत्वोभयसम्बन्धेन, पर्याप्तिनिवेशात् प्रमेयत्वादिरूपेणैकत्वज्ञानसत्त्वेऽपि न द्वित्वोत्पत्तिः । प्रकारतायां स्वभिन्नत्वनिवेशात् एकत्ववान् घटपटाविति द्वयोरेकमिति रीत्या ज्ञानसत्वेन द्वित्वोत्पत्तेः एकत्वैकत्ववान् शब्दवद्गगनं इत्येकत्र द्वयमिति रीत्या ज्ञानसत्वे वा न द्वित्वोत्पत्तिः स्वानवच्छेदकधर्मानवच्छिन्नत्वस्य विशेष्यतायां निवेशात् । एकत्ववद्गगनमित्याकारकक्रमिकज्ञानद्वयसत्वेऽपि न द्वित्वोत्पत्तिः, स्वसमवायिसमवेतत्वस्योभयत्र निवेशात् । 'घट एकः' 'पट एकः' इति पुरुषद्वयस्य

ज्ञानद्वयसत्वेऽपि न द्वित्वोत्पत्तिः, स्वसमानकालीनत्वस्योभयत्र निवेशात्। एकस्यैव पुरुषस्य प्रथमदिने "घट एकः" द्वितीये दिने "पट एकः" इति दिनद्वये ज्ञानद्वयसत्वेऽपि न द्वित्वोत्पत्तिः इत्येवं रीत्या परिष्कारे सर्वञ्चतुरस्रमिति ध्येयम्।

ननु, निरुक्तरीत्या यदि एकत्वान्यसंख्यात्वावच्छिन्नं प्रत्येकत्वत्वगतैकत्ववृत्तिप्रकारताविशिष्टविशेष्यतावत्वसम्बन्धेन ज्ञानस्य कारणत्वमुच्यते, तदा अयमेकोऽयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्धिसत्त्वे यथा द्वित्वात्मकसंख्योत्पद्यते तथा त्रित्वचतुष्ट्वादिकमप्युत्पद्यताम्, कार्यतावच्छेदकस्यैकत्वान्यसंख्यात्वरूपस्य सर्वत्राविशेषात्। नेयमापत्तिः प्रागभावस्य कारणतामङ्गीकृत्य वारयितुं शक्या ययोर्धर्मिणोर्द्वित्वत्वमुत्पद्यते तदुभयसहकृते धर्मित्रये तच्चतुष्टये वा त्रित्वस्य चतुष्ट्वादेश्चोत्पादात्तत्तत्प्रागभावस्य तत्रानङ्गीकर्तुमशक्यत्वात्। न च द्वित्त्वादितत्तत्संख्यां प्रति तत्तत्क्षणस्य कारणत्वमङ्गीक्रियते, इत्थञ्च विशेषधर्मावच्छिन्नसामग्रीसहकृताया एव सामान्यधर्मावच्छिन्नसामग्र्याः फलोपधायकतया त्रित्वाद्युत्पादकक्षणस्य द्वित्त्वोत्पत्तेः प्रागसत्वात् नेयमापत्तिरिति वाच्यम्, यस्मिन् क्षणे चैत्रसमवेतापेक्षाबुद्ध्या द्वित्त्वमुत्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे मैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या त्रित्वोत्पादनात्, तस्यैव त्रित्वस्य मैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या मैत्रीयद्वित्वोपादकोपादानभूते धर्मिण्युत्पादप्रसङ्गात्। विशेषकारणीभूतस्य तत्क्षणस्य सामान्यकारणीभूताया अपेक्षाबुद्धेश्चोभयत्रैवाविशेषात् इति चेत्, सत्यम्, तत्तत्संख्याविभाजकधर्मावच्छिन्नं प्रत्यपेक्षाबुद्धेरनुपदमेव वक्ष्यमाणा या रीतिस्तद्रीत्यैव कार्यकारणभावकल्पनान्न काप्यनुपपत्तिः। तथा हि द्वित्वत्वावच्छिन्नसंख्यां प्रति संख्याविभाजकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नविशिष्टसंख्याविभाजकतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नं प्रति संख्याविभाजकतावच्छेदकधर्मगतैकत्ववृत्तिप्रकारताविशिष्टविशेष्यतावत्वसम्बन्धेनापेक्षाबुद्धीया कारणता। कार्यतावच्छेदकधर्मघटकवैशिष्ट्यञ्च स्वाधिकदेशवृत्तित्व-स्वाधिकदेशवृत्तिसंख्याविभाजकधर्मविशिष्टान्यत्वोभयसम्बन्धेन। (निरुक्तविशिष्टान्यत्वघटकवैशिष्ट्यञ्च स्वाधिकदेशवृत्तित्वसम्बन्धेन इत्य-

धिकः पाठः) कारणतावच्छेदकसम्बन्धघटकवैशिष्ट्यञ्च स्ववृत्त्येकत्ववृत्तिप्रकारताविशिष्टविशेष्यतावत्वोभयसम्बन्धेन । प्रकारतायास्तादृशैकत्ववृत्तित्वञ्च स्वावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन । प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च विशेष्यतायां स्वनिरूपिततत्वस्वविशिष्टप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्टत्वोभयसम्बन्धेन । (प्रकारतायां प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च स्वावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन इत्यधिकः पाठः) स्वकालीनैकत्वत्वगतैकत्ववृत्तित्वस्वविशिष्टज्ञाननिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन । द्वितीयसम्बन्धघटकज्ञाने प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपकज्ञानविशिष्टत्वसम्बन्धेन । ज्ञाने ज्ञानवैशिष्ट्यञ्च स्वसमवायिसमवेतत्वस्वसमानकालीनत्वोभय सम्बन्धेन । विशेष्यतायां विशेष्यतावैशिष्ट्यञ्च स्वासमानाधिकरणत्वस्वानवच्छेदकधर्मानवच्छिन्नत्वोभयसम्बन्धेन । द्वितीयानुगमघटकानां तत्तत्सम्बन्धानामपि फलं पूर्वानुगमप्रकरणे पूर्वोक्तदिशैवावसेयम् । कुत्रचित् किञ्चित् वैलक्षण्यं स्यात्तदपि तद्रीत्या स्वयमेवोहनीयम् । पौनरुक्तिप्रायत्वभयात् विस्तारभयाच्च पुनर्न लिखितम् । उक्तकार्यकारणभावस्योदाहरणम् ।

इत्थञ्च त्रित्वादियावदनुगमस्य वृत्तिसंख्यात्वावच्छिन्नं प्रत्यनुगतरूपेणोक्तकार्यकारणभावेनैव सर्वनिर्वाहः । यथा इमौ द्वौ अयमेक इत्याद्याकारकापेक्षाबुद्ध्या त्रित्वस्य, इमे त्रयः अयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या इमे चत्वार इति चतुष्ट्वस्योत्पत्तौ निरुक्तकार्यकारणभावः सर्वत्र संघटते । संघटनप्रणाली तु स्थिरचित्तभावनायां स्वयमेव बुद्धिगोचरीभविष्यति ग्रन्थगौरवभयान्न लिखितमिति ध्येयम् ।

ननु यत्र अयमेकः पुनरयमेकः पुनश्चायमेकः इत्याकारकापेक्षाबुद्धिः, तत्रापि त्रित्वोत्पत्तिरानुभविकी, यत्र च इमौ द्वौ पुनरिमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्धिस्तत्र चतुष्ट्वोत्पत्तिः । यत्र च इमे त्रयः इमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्धिस्तत्र पञ्चत्वोत्पत्तिः, यत्र इमे पञ्च, अयमेक इत्याकारिका,

यत्र इमे चत्वार इमौ द्वौ इत्याकारिका यत्र वा इमौ द्वौ ३, इत्याकारकापेक्षाबुद्धयस्तत्र-तत्र सर्वत्रैव षट्त्वाद्युत्पत्तिरानुभविकीति प्रदर्शितरीत्या तत्तत्सख्योत्पत्तौ न निरुक्तकार्यकारणभावेन निर्वाहः इति चेन्न। इमे त्रयः अयमेक इत्याकारकापेक्षाबुदध्या चतुष्ट्वोत्पत्तेरिमे पञ्च अयमेक इत्याकारकापेक्षाबुदध्या षट्त्वाद्युत्पत्तेरगत्या स्वीकारात्; अन्यथा त्रित्वचतुष्ट्वपञ्चत्वसंख्योत्पत्तिं विनैव इमौ द्वो पुनरिमौ द्वौ पुनश्चेमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या षट्त्वसंख्योत्पादापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, अनुभवविरोधात्। अत एव शतत्वादिसख्यापरिगणनसमये यत्र पञ्चत्वादिसंख्याविस्मृतिर्जायते तत्र एकत्वमारभ्यैव पुनः परिगणनं करोति। एतावता चतुष्ट्वसंख्याज्ञानोत्तरमेव पञ्चत्वोत्पत्तिः, एवं पञ्चत्वज्ञानोत्तरमेव षट्त्वोत्पत्तिः स्वीकर्तुमुचिता। इत्थञ्च प्रदर्शितकार्यकारणभावे न कुत्राप्यव्याप्त्यतिव्याप्तिसम्भावनेति स एवं साधीयान्। यदि च चतुष्ट्वपञ्चत्वादिपूर्वसंख्याज्ञानमन्तरेणापि षट्त्वाद्यग्रिमसंख्योत्पत्तिरानुभविकी परिगणनसमये विस्मरणे पुनरादितः परिगणनन्तु संख्यापरिगणनव्युत्पत्तिसम्पादनाय तादृशव्युत्पत्ति······ चेत्याग्रहमातनुते। एतावताप्येतद् विषये ह्यनुगतं कार्यकारणभावं कर्तुमर्हामः। तथा हि स्वसमानवृत्त्येकत्वान्यसंख्यात्वावच्छिन्नम्प्रति स्वसमनियतापेक्षाबुद्धित्वेनकारणता। सामनैयत्यघटकस्य संख्याया व्यापकत्वस्य व्याप्यत्वस्य च नियामकः सम्बन्धः समवायो बोध्यः। अपेक्षाबुद्धेस्तस्याः नियामकः प्रकृतकारणतायाश्च नियामकसम्बन्धस्तु स्वविशिष्टप्रकारतानिरूपितविशेष्यताविशिष्टविशेष्यतावत्त्वसम्बन्धेन। प्रकारतायां स्ववैशिष्ट्यञ्च स्वकालीनसंख्याविभाजकधर्मगतैकत्ववृत्तित्वस्वनिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन। प्रकारतायाः तादृशरूपवृत्तित्वञ्च स्वावच्छेदकतात्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन। विशेष्यतायां विशेष्यतावैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपकापेक्षाबुद्धिविशिष्टापेक्षाबुद्धीयसख्याविभाजकधर्मगतैकत्ववृत्तिप्रकारतानिरूपितत्वस्वासमानाधिकरणत्वस्वानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन अपेक्षाबुद्धावपेक्षाबुद्धिवैशिष्ट्यञ्च स्वसमवायिसमवेतत्वस्वसमानकालीनत्वोभय-

तथा साक्षात्कारस्य कारणत्वात् तत्रापि तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, घटादौ चैत्राद्यपेक्षाबुद्धिं बिनाऽपि द्वित्वाद्युत्पत्त्यापत्तेः, भवन्मते

सम्बन्धेन। इत्थञ्चायमेकोऽयमेकोऽयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या इमौ द्वावयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या वा त्रित्वोत्पत्तौ, इमे त्रयः अयमेकः इत्याकारकापेक्षाबुद्धया इमौ द्वौ इमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या वा चतुष्ट्वोत्पत्तौ, इमे च चत्वारः अयमेकः अथवा इमे त्रयः इमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्धया पञ्चत्वस्योत्पत्तौ, इमे पञ्च अयमेकः अथवा इमे चत्वारः, इमौ द्वौ, यद्वा इमे त्रयः इमे त्रयः, किंवा इमौ द्वौ पुनरिमौ द्वौ पुनश्चेमौ द्वौ इत्याकारकापेक्षाबुद्या वा षट्त्वस्योत्पत्तौ निरुक्तकार्यकारणभावः सर्वत्र एकरूपात्मक एव संघटते इति निपुणं विभाव्य विदाङ्कुर्वन्तु। इत्थं सामनैयत्यनिवेशाच्चेमौ द्वावयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्धया न चतुष्ट्वोत्पत्तिः न वा इमे त्रयः अयमेकः इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या त्रित्वोत्पत्तिः प्रकारताद्वये संख्याविभाजक स्वगतैकत्वात्मकवृत्तित्वनिवेशात्, प्रमेयत्वादिधर्मपुरस्कारेण संख्याविषयकापेक्षाबुद्ध्याऽपि न पञ्चत्वोत्पत्तिः अपेक्षाबुद्ध्योः परस्परमेककालावच्छिन्नैकात्मवृत्तित्वप्रापकसंबन्धद्वयनिवेशात्। चैत्रश्च इमौ द्वौ मैत्रश्चायमेकः इत्यपेक्षाबुद्ध्या चैत्रस्यैव वा एकस्मिन् दिने इमौ द्वौ, द्वितीये दिने अयमेक इत्याकारकापेक्षाबुद्ध्या न त्रित्वोत्पत्तिः। विशेष्यताद्वयोरसामानाधिकरण्यनिवेशात्तयोर्धर्मिणोरिमौ द्वावित्यपेक्षाबुद्धिर्जाता, तयोरेव धार्मिणोरग्रिमक्षणे पुनरिमौ द्वावित्यपेक्षाबुद्धिरुत्पन्ना, तत्र न चतुष्ट्वोत्पत्तिः स्वानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्वनिवेशात्। घट एकः पुनर्घटत्वे पटावगाहि घट एक इत्यपेक्षाबुद्धया न द्वित्वोत्पत्तिः अवशिष्टमपि सम्बन्धघटकधर्मघटकविशेषणफलं प्रदर्शितरीत्या स्वयमेवाह···अपरिशीलितः पन्थाः।

"तत्रापीति"। परमाणुद्वयेऽपि तत्सिद्धिः। विशेष्यतासम्बन्धेनैकत्वप्रकारकापेक्षाबुद्धिसिद्धिः। तथा च सर्गादौ जन्यापेक्षाबुद्धेरसम्भवात् भगवत एवापेक्षाबुद्धिसिद्धिरिति भावः। उत्तरयति "घटादाविति"। तथा

भगवदपेक्षाबुद्धेः सत्त्वात् । जन्यसाक्षात्कारत्वेन कारणत्वे च कुतो भगवत्साक्षात्कारसिद्धिः ।

नच चैत्रीयद्वित्वादौ चैत्रीयापेक्षाबुद्धेः कारणत्वमतो न चैत्रीयापेक्षाबुद्धिं बिना चैत्रीयद्वित्वाद्युत्पत्तिः, एवं मैत्रीयत्वादिकमादाय कार्यकारणभावकल्पनान्मैत्रीयद्वित्वाद्युत्पत्तिः चैत्रीयत्वमैत्रीय-

---

च सन्मात्रविषयिणी भगवद्बुद्धिरिति घटद्वयवृत्त्येकत्वप्रकारिकाऽपि साऽवश्यमेव वाच्या । तथा च घटद्वयगतद्वित्वोत्पत्तिजनिकायास्तस्या एव सत्वात् तादृशद्वित्वोत्पत्तेरावश्यकत्वात् । न हि कारणसत्त्वे कार्यविलम्ब इति न्यायात् । न च घटद्वयादौ भगवत्समवेतापेक्षाबुद्ध्या द्वित्वोत्पत्तावपि न काऽपि क्षतिः, चैत्रीयापेक्षाबुद्ध्या जनितेऽपि द्वित्वे न मैत्रस्य तत्प्रत्यक्षम्, न वा तादृशद्वित्वप्रयुक्तः कोऽपि व्यवहारो मैत्रस्य जायते । इत्थञ्चान्यदीयया भगवदपेक्षाबुद्ध्याऽपि जनिते द्वित्वे नास्मदादीनां तत्प्रत्यक्षम् न वा तत्प्रयुक्तः कोऽपि व्यवहारादिरिति वाच्यम्, न चैकत्वान्येत्यादिना पूर्वपक्षकर्त्तुरयमाशयः, सर्गादौ द्वयणुकसिद्धिः परमाणुद्वयेन, तत्र द्वित्वं कस्यापेक्षाबुद्धिजन्यम् ? इत्थञ्च द्वयणुकादेरन्यथाऽनुपपत्त्या तज्जनकापेक्षाबुद्धिर्भागवती एव कल्प्या तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरावश्यकी । उत्तरयितुरयमाशयः– यदि भागवती बुद्धिः सर्गादौ द्वित्वसम्पादिका तदा घटेन किमपराद्धं तत्रापि तयैवापेक्षाबुद्ध्या धाराप्रवाहन्यायेन अनन्तद्वित्वोत्पत्तिः स्यात् । तत्प्रत्यक्षं भवतु न वा तावताप्यनन्तसंख्याकल्पनस्यानुभविकस्य दुर्वारत्वादिति दिक् ।

"जन्यसाक्षात्कारेति" । कुतो भगवत्साक्षात्कारसिद्धिः कुतो वा सर्गादौ द्वयणुकसिद्धिरिति शेषः । "न च चैत्रीयद्वित्वादाविति" । यद्यपि सर्गादौ तदसम्भवान्न प्रकृते कोऽप्युपयोगः । तथापि निरुक्तरूपेण यदि विशेषरूपेणापि कार्यकारणभावः क्लृप्तः तदा सर्गादिकालीनद्वित्वस्यापि काऽप्यपेक्षाबुद्धिर्जनिका स्यादेवेति तदानीमस्मदाद्यपेक्षाबुद्धेरसम्भवात् भवति भगवतोऽपेक्षाबुद्धिसिद्धिरिति भावः । उक्तकार्यकारणभावकल्पनमपि

त्वादिकं च द्वित्वादौ जातिरिति वाच्यम्, द्वित्वत्वत्रित्वत्वादिजात्या साङ्कर्यप्रसङ्गात्। अथ द्वित्वत्वादिव्याप्यभिन्नभिन्नैव चैत्रीयत्वादिजातिः कार्यकारणभावानन्त्यन्त्वनन्यगत्या सोढव्यमिति चेन्न, यया सामग्र्या परमाणुद्वये द्वित्वोत्पत्तिः, तथा भगवदपेक्षाबुद्धिस्वरूपया घटादावपि द्वित्वोत्पत्त्यापत्तेः। अथ जन्या-

---

न विचारचमत्कृतमिति प्रदर्शयति "द्वित्वत्वत्रित्वत्त्वेत्यादि"। इत्थञ्च चैत्रीयत्वाभाववति मैत्रीयद्वित्वे द्वित्वत्त्वमस्ति तादृशद्वित्वत्त्वाभाववति चैत्रीयत्रित्वे चैत्रीयत्वमस्ति चैत्रीयद्वित्वे चोभयमस्तीति साङ्कर्यम्। एवमेव त्रित्वत्वमादायापि साङ्कर्यं बोद्ध्यम्। तथा च साङ्कर्यभयेनैवास्य हेयत्वादिति भावः। पुनरेनमेव कार्यकारणभावं समीचीनीकरोति "अथेति"। तथा च चैत्रीयत्वं द्वित्वत्वव्याप्यमेकं पुनर्मैत्रीयत्वं त्रित्वत्वव्याप्यं तद्भिन्नमेकं एवंरीत्यैव परार्धपर्यन्तम्, अनयैव रीत्या द्वित्वमारभ्य परार्धपर्यन्तं मैत्रीयत्वमपि चैत्रीयत्वाभाववति मैत्रीयद्वित्वे यद् द्वित्वत्त्वं वर्त्तते तदभाववति चैत्रीये द्वित्वे त्रित्वे वा चैत्रीयत्वमस्ति, तयोः सामानाधिकरण्याभावादेव न साङ्कर्यमित्याशयः परन्तु द्वित्वत्त्वव्याप्यचैत्रीयवैजात्यावच्छिन्नं प्रत्येकापेक्षाबुद्धिर्हेतुः। एवं त्रित्वत्वव्याप्यचैत्रीयवैजात्यावच्छिन्नं प्रत्यपरापेक्षाबुद्धिर्हेतुः। अनयैव रीत्या चैत्रीयवैजात्यमादाय परार्धपर्यन्तं प्रत्येकं कार्यकारणभावः। एवं मैत्रीयवैजात्यमादाय द्वित्वमारभ्य परार्धपर्यन्तं प्रत्येकं कार्यकारणभावो वाच्य इत्याशयेनोक्तं कार्यकारणभावानन्त्यत्वमनन्यगत्या बोद्ध्यमिति। अन्यथा कथमपि न प्रकृतनिर्वाह इत्युक्तगौरवं न दूषणमपितु भूषणमेवेति भावः। उक्तकार्यकारणभावे दोषमाह "यया सामग्र्येति"। तथा च गौरवमङ्गीकृत्य साङ्कर्यवारणेऽपि चैत्रीयाद्यपेक्षाबुद्धिं विनापि भागवत्यैवापेक्षाबुद्ध्या निरानुभविकी घटादौ द्वित्वोत्पत्तिः पुनरवारितैवेति भावः। ईश्वरज्ञानात्मकापेक्षाबुद्धिमादाय घटादौ द्वित्वाद्युत्पत्तिं

पेक्षाबुद्धिजन्येषु परमाणुद्वित्वेषु जातिमेकामपराञ्च द्व्यणुकद्वित्वेष्वङ्गीकृत्य प्रथमजात्यवच्छिन्नं प्रति परमाणुद्वयारम्भकसंयोगवृत्तिजात्या कारणत्वम् द्वितीयजात्यवच्छिन्नं प्रति च द्व्यणुकसमवेतारम्भकसंयोगवृत्तिजात्या । इत्थञ्च द्विविधा द्वित्वोत्पत्तिप्रयोजिका सामग्री चैत्रीयापेक्षाबुद्धिघटितैका परा च परमाणुसमवेतारम्भकसंयोगविशेषघटिता इति नैकाऽपि तयोः चैत्रीयापेक्षाबुद्धिविरहदशायां घटादौ वर्त्तते । त्रित्वसामग्र्यपि एवमवगन्तव्या । चतुष्ट्वादिकञ्च न जन्यापेक्षाबुद्धिं विना कुत्रापि जायते परमाणुचतुष्टयादिना द्व्यणुकचतुष्टयादिना वा द्रव्यानारम्भणादिति चेन्न, परमाणुद्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिं विनाप्युत्पत्तौ

वारयितुं प्रपञ्चान्तरमुपन्यस्यति अथ "जन्यापेक्षाबुद्धीत्यादि" । तथा च जन्यापेक्षाबुद्ध्यजन्यपरमाणुद्वयगतद्वित्ववृत्तिवैजात्यावच्छिन्नोत्पादिका परमाणुद्वयारम्भकसंयोगवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नघटितेश्वरीयापेक्षाबुद्धिबलिता सामग्री एका वाच्या । एवं त्रसरेण्वारम्भकसंयोगवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नघटितेश्वरीयापेक्षाबुद्धिबलिता सामग्री त्रसरेणुवृत्तित्रित्वगतवैजात्यावच्छिन्नोत्पादिकाऽपरा सामग्री वाच्या । इत्थञ्च चैत्रीयाद्यपेक्षाबुद्धिविरहदशायामेकाऽपि सामग्री नास्तीति तदानीं घटादौ न द्वित्वाद्युत्पत्त्यापादनसम्भावना घटादिगतद्वित्वत्रित्वादिवृत्तितत्तद्वैजात्यावच्छिन्नं प्रति तु जन्यापेक्षाबुद्धित्वेनैव कारणता । तथा च सर्वं चतुरस्रमिति पूर्वपक्षयितुराशयः । उत्तरं ददाति — "इति चेन्नेति" । तत्र हेतुमाह परमाणुद्वित्वादेरिति । तथा च भवन्मतेऽपि द्व्यणुकारम्भकसंयोगघटितेश्वरीयापेक्षाबुद्ध्यात्मकसामग्र्या द्वित्वोत्पत्तिरङ्गीक्रियते । मन्मते तु तत्रेश्वरीयापेक्षाबुद्धिर्यथा घटादिद्वित्वोत्पत्तावप्रयोजिका अनुभवतौल्यात् परमाणुगतद्वित्वोत्पत्तावपि सा न प्रयोजिका । किन्तु भवदङ्गीकृतपरमाणुद्वयसंयोगमात्रस्यैव कारणत्वमङ्गीकृत्य प्रकृतनिर्वाहसम्भवात् । "अपेक्षाबुद्धिं विनापीति" । अपेक्षाबुद्धेः कारणत्वाङ्गी-

बाधकाभावात् कारणत्वस्य त्वयैव क्लृप्तत्त्वात्, सामान्यतोऽपेक्षा-बुद्धेः कारणत्त्वे मानाभावात्, यद्विशेषयोरित्यादिव्याप्तावप्रयोजकत्वात् । त्रुटावेव विश्रामवादिनां तु नैतद्वार्ताऽपि चेतश्चरीत्यलमसद्धेतुभिरीश्वरमननसमर्थनैरिति ।

कारं विनापि तादृशद्वित्वोत्पत्तौ बाधकाभावादित्यर्थः । "कारणत्वस्य" इति । आरम्भकसंयोगे कारणत्वस्य त्वयैव स्वीकारात् प्रकृतस्थल एवेति भावः । ननु चैत्रीयद्वित्वे चैत्रीयापेक्षाबुद्धे र्मैत्रीयद्वित्वे मैत्रीयापेक्षाबुद्धेः कारणतानुपदमेवाङ्गीकृता । इत्थञ्च यदि शेषयोस्तत्सामान्ययोरपीति व्याप्ते कुतो न सामान्यतोऽपेक्षाबुद्धेः कारणता सेत्स्यतीति तदनुरोधेन परमाणुद्वित्वोत्पत्तावीश्वरीयापेक्षाबुद्धेः कारणत्वमावश्यकमत आह "सामान्यत इति"। "अप्रयोजकत्वादिति"। व्यभिचारशङ्काकवलितत्त्वात् तन्निवर्त्तकतर्कशून्यत्वाच्चेति भावः । 'त्रुटावेवेति" । अर्थात् त्रसरेणुपर्यन्तमेवावयवधाराविश्रामवादिनाम् । एतद्वार्त्ता परमाणुद्वयगतद्वित्वोत्पादकापेक्षाबुद्धयाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरूपा वार्त्ता । न चेतश्चरी, अर्थात् चित्तेऽपि नायातीति भावः । अलमसद्धेतुरिति । तथा च प्रदर्शितरीत्या नवविधमप्यनुमानं सर्वं दूषितमेव । तथा च केन बलेनेश्वरसिद्धिर्भविष्यतीति पूर्वपक्षः[1] ।

---

१. तथा च कार्यसामान्यं प्रति नोपादानप्रत्यक्षादिकं कारणमिति क्षित्यादिकार्ये एव प्रथमहेतुर्व्यभिचारी । कर्मसामान्ये न प्रयत्नं कारणमिति द्वितीयोऽपि । तथा पृथिवीवृत्तिवैजात्यात्तत्पतने प्रतिबन्धकत्वकल्पनात्तृतीयोऽपि न भगवत्साधकः । चतुर्थोऽपि नाशसामान्ये प्रयत्नस्य कारणत्वानभ्युपगमात् व्यभिचारी एव । व्यवहारे स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तत्वं प्रमाणाभावादेव नाङ्गीकरणीयमिति पञ्चमोऽपि तथैव । प्रमाया गुणजन्यत्वानभ्युपगमात् षष्ठोऽपि तथैव । द्वयणुकादिगतद्वित्वसंख्या न भगवदपेक्षाबुद्धिजन्या द्वयणुकारम्भकसंयोगादिनावश्यकेनैव तत्सिद्धिरिति सप्तमोऽपि तथैव । श्रुतिपक्षकद्विविधावपि हेतू न भगवत्साधकौ यतस्तस्य शरीराभावात् उच्चारणकर्तृत्वमेवासम्भवि इत्यर्थान्तरग्रस्तत्वे न प्रकृतोपयोगिनौ । एवं

अत्रेदमालोचयामः—कर्मणः संयोगं प्रति तत्त्वतत्त्वेन कारणत्वमवश्यं वाच्यम्, अन्यथा मिथिलादेशस्य पुरुषकर्मणा काशीस्थपटेनापि संयोगजननप्रसङ्गात् । तत्त्वतत्त्वेन कर्मणः कारणत्वाभ्युपगमे तु मिथिलास्थपुरुषकर्मणः संयोगे जननीये मिथिलास्थपटस्यैव सहकारित्वं न तु काशीस्थपटस्येति न तेन सह मिथिलास्थपुरुषस्येह संयोगः । तत्र कार्यतावच्छेदकधर्मो न संयोगत्वं व्यभि-

---

नवविधानुमानेनेश्वरसिद्धौ प्रदर्शितरीत्या तत्खण्डनात्मक नास्तिकादीनां प्रौढपूर्वपक्षं समाधातुं भूमिकामाह—"अत्रेदमालोचयाम इति ।" तथा चोक्तं नवविधमप्यनुमानं दूषितं भवतु नवेत्यन्यदेतत् किन्तु वक्ष्यमाणस्थलोयकार्यकारणभावविशेषानुरोधेनावश्यमेवेश्वरोऽङ्गीकर्त्तव्य इत्याशयेन तादृशकार्यकारणभावं प्रदर्शयति । कर्मणः संयोगं प्रति "तत्त् तत्त्वेनेत्यादि" । तत्तदसाधारणधर्मपुरस्कारेणेत्यर्थः । वास्तविकतत्तत्संयोगानुयोगिसहकृतेन कर्मवता प्रतियोगिना तत्तदनुयोगिनि संयोगो जननीय इति भावः । अत्र कार्यकारणभावाकृतिं विचारयति "तत्र चेति" । संयोगत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्कर्मणः कारणत्वे स्फुट एव व्यभिचारः । न च संयोगसामान्यं प्रति सामान्यतः कर्मणः कर्मत्वेन कारणत्वमिति कुतो व्यभिचार इति वाच्यम्, चैत्रकर्मणा मैत्रस्य मैत्रकर्मणा चैत्रस्य च संयोगापत्तेः । न च सामान्यतस्तयोः कर्मवतोः संयोग उत्पद्यत एव विशेषस्यापत्तिस्तदापादकाभावादेव निरस्तेति वाच्यम्, चैत्रसंयोगस्त्वत्रोत्पद्यते मैत्रसंयोगस्तत्र विनिमयेन कुतो नेति प्रश्ने कार्यकारणभावविशेषं विना उत्तरस्य दातुमशक्यत्वात् इति विशेषतः कार्यकारणभावमेव प्रकृते विचारयतीति भावः ।

नवमोऽपि संख्यापक्षकान्वयरीत्या तदारम्भकसंयोगादिनैव द्व्यणुकपरिमाणं जननीयमिति सोऽप्यर्थान्तरग्रस्त एव । अत्र षड्विधानुमानसाधकहेतौ स्वयमेव दुष्टत्वं ग्रन्थकृता प्रदर्शितम् । तद्दिशैवावशिष्टा अपि हेतवो दूषिताः सहजत एव भवेयुरिति ग्रन्थगौरवभयाच्च तेषु दोषाः न प्रदर्शिताः ।

चारात्। अपितु तत्तत्कर्मजन्येषु वैजात्यमभ्युपेत्य तदवच्छिन्नं प्रति कर्मणस्तत्त्वतत्त्वेन कारणत्वम्। तत्तत्कारणतावच्छेदकसंसर्गो न समवायः, उत्तरदेशे तत्कर्मणस्तेनाभावात्। न चाभिमुख्यम्, तस्यातिरिक्तस्याभावात्, न च तज्जातोयसंयोगप्रागभाव एवाभि-

---

तत्तत्कर्मजन्येषु "वैजात्यमिति"। तथा च चैत्रकर्मणा यो यः संयोगो जन्यते तावत्सु एकं वैजात्यं, एवं मैत्रकर्मजन्येषु परं वैजात्यं कल्पनीयम्। इत्थञ्च कारणतावच्छेदकमपि न सामान्यतः संयोगत्वम्। तथा सति संयोगत्वावच्छिन्नस्य मैत्रसंयोगस्य सत्त्वे चैत्रकर्मजसंयोगवृत्तिवैजात्यावच्छिन्नस्यानुत्पादात् अन्वयव्यभिचार स्यात्, अतः कारणतावच्छेदकमपि चैत्रादिसंयोगवृत्तिवैजात्यमेव कल्प्यम्, तदेव तत्त्वतत्त्वम्। न चैवं मिथिलास्थचैत्रकर्मणा काश्यां संयोगोत्पत्तिर्न वारितेति वाच्यम्, तादृशवैजात्यावच्छिन्नोत्पत्तौ चानुयोगिदेशस्यापि सहकारिकारणत्वात् मिथिलान्तर्गततत्तद्देशस्य काश्यां अभावादेव तद्वारणसंभवात्। प्रकृतकार्यकारणभावे कारणतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं च संबन्धन्निर्वक्तुमुपन्यस्यति—'तत्र कारणतावच्छेदकसंबन्ध इति।" इदमस्याभिमुखमेतादृशव्यवहारो यत्र जायते तद्वृत्तिधर्मस्यैवाभिमुख्यत्वे कर्मवतश्चैत्रस्य पार्श्वदेशावच्छेदेन संयोगोत्पत्तिर्न स्यात् अतश्चैत्रकर्मणा जायमानसंयोगप्रागभावानामेवाभिमुख्यत्वमगत्याङ्गीकृत्य तादृशाभिमुख्यत्वसमवायान्यतरसंबन्धेन कारणत्वोक्तौ न कोऽपि दोष इति भावः। तत्तद्व्यक्त्यनुयोगिकेति"। तत्तत्संयोगप्रतियोगिव्यक्त्यनुयोगिकेत्यर्थः। अनुयोगिदेशस्य कर्माभावात् केन कारणेन तत्र संयोगोत्पत्तिः? कारणमन्तरेणापि तदुत्पत्तिस्वीकारे त्वनुयोगिभिन्नौदासीनदेशेऽपि तदुत्पत्तिः स्यादित्याह—"उत्तरदेशनियमार्थस्त्विति"। तथा चानुयोगिव्यक्त्यात्मकतत्तद्व्यक्त्यनुयोगिकसमवायेन तत्तत्संयोगं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेनापि कारणतेति भावः। तत्तद्व्यक्तिभेदेन तत्तद्संयोगव्यक्तिभेदेन च कारणताभेदापत्तिः। इत्थञ्च तत्र संयोगगतवैजात्यकल्पनाया अपि नावसरः समायाति। "तत्तदुत्तरदेशभेदेनेति"। तथा च तत्तद्देशानुयोगिक-

मुख्यम्, प्रागभावे मानाभावात् । न च तत्तद्व्यक्त्यनुयोगिकसमवाय एवाभिमुख्यम्, विजातीयसंयोगत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्कर्मणः समवायेन कारणत्वं, उत्तरदेशनियमार्थं तु तत्तद्व्यक्तित्वेनोत्तरदेशानामपि कारणत्वमिति वाच्यम्, तद्व्यक्तिसमवेततत्तत्संयोगं प्रति तत्तद्देशस्य तत्त्वेन कारणत्वेन तत्तत्संयोगव्यक्तिभेदेन कारणताभेदापत्तेः । न च तद्देशसमवेतरूपरसादेरन्यत्रापत्तिवारणाय तत्तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वं क्लृप्तमेवेति वाच्यम्, तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वकल्पनेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । अथोत्पत्तौ स्थितौ ज्ञप्तौ चान्योन्याश्रयो भवति । न च तत्तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वे स्वीकृते कयोरपि परस्परसापेक्षा स्थितिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा स्वीकृता भवतीति कथमन्योन्याश्रय इति चेन्न तद्रूपादिव्यक्तिरन्यत्र कुतो न भवतीति उक्ते

समवायसम्बन्धेन तत्तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तद्देशत्वेन तादात्म्येन कारणत्वाङ्गीकारे तत्तत्कार्यभेदेन कारणताभेदो मास्तु, तत्तद्देशभेदेन कारणताभेदस्य दुःपरिहरत्वात् । निरुक्तकार्यकारणभावबाहुल्येन गौरवस्यावश्यकत्वेन अदोषत्वं उपपादयन् शङ्कते "न चेति"। तथा च समवायेन घटीयरूपरसादिकं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन कपालीयरूपरसादिकं कारणं वाच्यम्। इत्थञ्च तादृशं कारणमन्यघटेऽप्यस्ति, तत्र एतद्घटीयरूपादिकमुत्पद्यतां एवमेतद्घटे तद्घटीयरूपादिकमुत्पद्यतामिति व्यत्यासवारणायैव तत्तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तद्व्यक्तित्वेन तादात्म्येन कारणत्वमावश्यकमिति भावः । समाधत्ते—"अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादिति"। अन्योन्याश्रये त्रैविध्यं प्रतिपादयन् शङ्कते "अथेति"। अन्योन्याश्रयमेव प्रकृते संघटितं करोति। "तत्तद्रूपादिव्यक्तीति"। "परस्परप्रयोज्यत्व-

यतस्तद्व्यक्तिसमवेता भवति ततो नान्यत्र जायत इति वक्तव्यम् ।

तद्व्यक्तिसमवेतैव कुतो भवतीति पुनः पृष्टे यतो नान्यसमवेता भवतीति ततोऽत्रैव समवैतीत्युत्तरे तद्व्यक्तिसमवेतत्वप्रयोज्यमन्यव्यक्त्यसमवेतत्वप्रयोज्यम् च तद्व्यक्तिसमवेतत्वमिति परस्परप्रयोज्यत्वरूपमन्योन्याश्रितत्वमिति । अथ तद्व्यक्तिसमवेतत्वं रूपादेः नान्यव्यक्त्यसमवेतत्त्वप्रयोज्यम्, किंतु स्वाभाविकं स्वकारणप्रयोज्यं वा, समवेतत्वं हि समवायसंबंधावच्छिन्नाधेयता,

---

रूपमन्योन्याश्रितत्वमितीति" । एतावता उत्पत्तौ स्थितौ च अन्योन्याश्रितत्वं प्रदर्शितं भवति, न तु ज्ञप्ताविति चेन्न । तद्रूपस्य तद्व्यक्तिमात्रसमवेतत्वेन यज्ज्ञानं तच्चान्यव्यक्त्यसमवेतत्वज्ञानप्रयोज्यम् । अन्यव्यक्त्यसमवेतत्वज्ञानञ्च तद्व्यक्तिमात्रसमवेतत्वज्ञानप्रयोज्यमिति ज्ञप्तावपि अन्योन्याश्रयसम्भवान्नानुपपत्तिरिति भावः ।

प्रकृते प्रदर्शितान्योन्याश्रयं परिहरन्नाशङ्कते—"अथेति" "स्वाभाविकमिति" यथा वह्निरुष्ण एव जलं शीतमेव तथैव तद्रूपं तद्व्यक्तावेवोत्पद्यत इत्याशयः । ननु वह्न्यादावप्युष्णत्वं निदानीभूतपरमाणुगतोष्णत्वादिप्रयोज्यमेवेति विनाकारणनिर्वचनं तद्व्यक्तिमात्रसमवेतत्वनिर्वचनं दुर्वचमत आह—"स्वकारणप्रयोज्यं वेति" । तथा च अगतया देशव्यत्यासवारणाय तत्तत्कार्यप्रागभावस्य कल्पनमङ्गीकृत्य तद्बलात् तत्तद्देश एव तत्तद्रूपाद्युत्पत्तिः प्रागभावस्य धर्मिग्राहकमानसिद्धमेव तत्तद्देशमात्रानुयोगिकत्वम्, इत्थञ्च नान्योन्याश्रयादिरूपदोषादिसम्भावनेति भावः । प्रागभावादिकल्पनमन्तरेणापि प्रकृतनिर्वाहमाह—"समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतेति" । नन्वाधेयत्वं यद्याधेयतावच्छेदकसम्बन्धरूपं तदा तत्तद्रूपाधेयत्वं समवायात्मकमेव, तच्च नित्यम् । तथा च तत्तद्रूपोत्पत्तेः पूर्वं तत्तद्रूपनाशोत्तरं वा इदानीं तद्रूपस्याधेयत्वमस्ति, निरूपकतासम्बन्धेन तद्रूपाधेयतावान्घट इत्यादि

सा चातिरिक्ता यदि तदा नित्यैवेति न प्रयोज्या कस्यापि, यदि च स्वाश्रयरूपादिरूपा तदा तदीयकारणप्रयोज्यैवेति नान्यव्यक्त्यसमवेतत्वं तत्प्रयोजकं नापि तज्ज्ञापकम् । तत्तद्व्यक्तिसमवेतत्वस्य रुपादौ प्रत्यक्षादित एव सिद्धेरिति चेन्न, तद्रूपाद्यभावोऽन्यव्यक्तौ केन सिद्ध इति वक्तव्यम् । प्रत्यक्षेणेति चेन्न, व्यक्तावसन्निकृष्टायामतीन्द्रियायां च तदसम्भवात् । अनुमानेनेति चेन्न हेतोरनुपन्यासात् । कारणीभूततद्देशव्यक्तिभेदो हेतुरिति चेन्न, तद्देशव्यक्तेः तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नं प्रत्येव त्वया जनक-

---

प्रतीतिः स्यात्, तद्भिया तत्तद्रूपादिस्वरूपमेव तत्तद्रूपाधेयत्वं वाच्यमित्याह–"यदि चेति"। "तदीयकारणप्रयोज्यैवेति" इति। अगत्या तत्तद्रूपप्रागभावं प्रकल्प्य तत्तत्प्रयोज्यैव तत्तद्देशवृत्तितेतित भावः। सा च वृत्तिता प्रत्यक्षग्राह्यैवेति उत्पत्तिस्थितिज्ञप्तिषु कुत्रापि नान्योन्याश्रय इति पूर्वपक्षः। तस्य समाधानं कर्त्तुमुपन्यस्यति –"तत्तद्रूपाद्यभाव" इति। असन्निकृष्टायां काशीस्थघटपटादिव्यक्तौ चातीन्द्रियायां परमाण्वादिव्यक्तौ तदसम्भवात् प्रत्यक्षासम्भवात्। "कारणीभूतेति"। तद्घटः एतद्घटीयरूपाभावान् एतद्घटभिन्नत्वात् इत्यनुमानादेव तत्सिद्धिरित्याशयः।

तद्घटभिन्ने तद्घटीयरूपाभावः प्रदर्शितानुमानेनापि न साधयितुं शक्य इत्याह—"तद्देशव्यक्तेरिति"। "तत्तयोरिति"। तद्रूपत्वतद्रसात्वाद्योरित्यर्थः। तथा च तद्रूपत्वादेः कार्यतानवच्छेदकत्वात् कारणाभावेन कथं तदवच्छिन्नाभावासिद्धिरिति, भावः। तद्देशसमवेतत्वं कार्यतावच्छेदकं, तद्देशत्वं कारणतावच्छेदकम्. तदभावेन तद्देशसमवेताभाव एव सिद्ध्यतु, परन्तु तद्देशसमवेतस्य तद्रूपव्यापकतया व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धिस्तु सुप्रसिद्धैवेति। तदन्यदेशस्तद्रूपाभाववान् तद्देशसमवेताभावादित्यनुमानेनैव तत्र तद्रूपाभावसिद्धिः सुलभेति भावः। ज्ञप्तावन्योन्याश्रयं प्रदर्श्य निरुक्त-

त्वाभ्युपगमेन रूपादिनिष्ठतत्तयोस्तद्देशकार्यतावच्छेदकत्वानभ्युपगमात्तद्देशव्यक्तिभेदेन तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नाभावस्यैव साधनात्। कारणतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावेन कार्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाभावः सिद्ध्यतीत्युपगमात्। अथ तद्देशव्यक्तिभेदेन तद्देशव्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नाभाव एव सिद्ध्यति, तेन च तद्रूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावोऽपि सिद्ध्यति, तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नस्य तद्रूपत्वावच्छिन्नं प्रति व्यापकत्वात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यसम्भवादिति चेन्न। तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नस्य तद्रूपत्वाद्यवच्छिन्नं प्रति व्यापकतायास्तद्रूपादिव्यक्तेरन्यदेशवृत्तित्वसंभावनायां ग्रहीतुमशक्यतयाऽन्यव्यक्तौ तद्रूपाद्यभावसिद्धौ सत्यां व्यभिचारशङ्काविरहे तद्रूपत्वावच्छिनं प्रति तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नस्य व्यापकताग्रहः, तयोर्व्यापकताग्रहे च सति तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नाभावेन तद्रूपत्वावच्छिन्नाभावसिद्धिरिति ज्ञप्तावन्योन्याश्रयात्।

अथ तद्रूपव्यक्तेस्तद्देशसमवेतत्वं प्रत्यक्षेणानुमानेन वा सिद्धमुभयासमवेतत्वविशिष्टतद्व्यक्तिसमवेतत्वेन तद्रूपव्यक्ते-

---

विचारं विडम्बयति—"तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्नस्येति"। तथा च तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नस्य तद्रूपव्यापकताग्रहे व्यभिचारशङ्कानिवृत्त्यर्थं तद्रूपाभावसिद्धेरपेक्षा, तद्रूपाभावसिद्धौ च व्यापकताग्रहापेक्षेति ज्ञप्तौ स्फुट एवान्योन्याश्रय इति भावः। निरुक्तान्योन्याश्रयपरिहाराय भूमिकामारचयति—"अथ तद्रूपव्यक्तेरिति"। तद्घटीयरूपादेस्तद्देशसमवेतत्वं प्रत्यक्षेण परमाण्वाद्यतीन्द्रियवृत्तिरूपादौ प्रत्यक्षासम्भवेन प्रत्यक्षानुमानयोरुपन्यासः—"उभयासमवेतत्वविशिष्टेति"। तथा च तद्घटीयरूपं तद्घटान्यासमवेतं तद्धटसमवेतत्वात् एवं रीत्या अन्यासमवेतत्वसिद्धौ व्यभिचारशङ्काया निरासाद् व्यापकताग्रहः सुलभ इति भावः।

रन्यासमवेतत्वमपि साधनीयम् । ततश्च निरस्तायां तद्रूप-व्यक्तेरन्यदेशवृत्तित्वसंभावनायां तद्रूपत्वावच्छिन्नं प्रति तद्देशसम-वेतत्वावच्छिन्नस्य व्यापकता सुग्रहेति नोक्तान्योन्याश्रयः। अन्यथा धूमादिपरामर्शादीनामपि स्वस्वविशिष्टानुमितिषु कारणता न स्यात्, दर्शितान्योन्याश्रयात्। तथा हि धूमादिपरामर्श(ष)शून्य-काले पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितिसामान्याभावः केन साध-नीयः ? न हि तादृशानुमितित्वावच्छिन्नजनकबाधाभावसिद्ध्य-भावयोरभावेन, तयोस्तदानीं सत्त्वात्। नापि धूमादिपरामर्शाभाव-कूटत्वेन, तस्य व्याप्यत्वासिद्धेः। सिद्धे हि तत्काले तादृशानुमिति-सामान्याभावे निरस्तायां व्यभिचारशङ्कायां व्याप्यत्वग्रहः, गृहीते

निरुक्तान्योन्याश्रयदोषं परिहर्त्तुमतिप्रसिद्धस्थलमुपन्यस्य उपायान्तरं प्रदर्शयति अन्यथा "धूमपरामर्शादीनामपि" इति।

प्रदर्शितां वक्ष्यमाणां वा युक्तिमनाकलय्य सर्वत्र यथाश्रुतरीत्यैव कार्यकारणभावकल्पने स्वस्वविशेष्टेति। तथा चाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन वह्न्याद्यनुमितिं प्रति धूमपरामर्शत्वेन, एवमव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनालोक-परामर्शविशिष्टवह्न्याद्यनुमितिं प्रत्यालोकपरामर्शत्वेन कारणता न स्यादि-त्यर्थः, अन्योन्याश्रयदोषकवलितत्वात्।

उक्तान्योन्याश्रयदोषसंघटनं प्रकृते ग्रन्थकार एव स्पष्टी करोति—"तथाही" त्यादिना। "तस्य व्याप्यत्वासिद्धे रिति"—धूमपरामर्षाभावकूटस्य वह्न्यनुमितिसामान्याभावव्याप्यत्वस्य तदानी-मसिद्धेः व्यभिचारशङ्का कवलितत्वादित्याशयः। "सिद्धे ही" ति। प्रत्यक्षादिना सिद्धे सिद्धिसम्भावनायां वा वह्न्यनुमितिसामान्याभावे व्यभि-चारशङ्कानिरासेन व्याप्यत्वग्रहः, गृहीते च व्याप्यत्वे तादृशाभावसिद्धि-

च व्याप्यत्वे तादृशानुमितिसामान्याभावसिद्धिरिति। यदि च धूमादिपरामर्शाभावकूटस्य पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नाभाव एव प्रयोज्य इति धूमपरामर्शाद्यभावप्रयोज्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वमेव नियतोत्तरवर्त्तितावच्छेदकं तु धूमादिपरामर्शविशिष्टत्वमिति धूमादिपरामर्शविशिष्टपर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति जनकत्वमपि पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगितावच्छेदकं धूमादिपरामर्शविशिष्टत्वावच्छिन्ननियतपूर्ववर्त्तितावच्छेदकं च यद्धूमादिपरामर्शत्वं तद्वत्त्वमेव। अत एव विधेयतोद्देश्यता च कार्यतावच्छेदककोटौ

रिति ज्ञप्तावन्योन्याश्रयः। उक्तान्योन्याश्रयं परिहरति—"यदि चेति"। "प्रयोज्य इति।" यद्यपि धूमादिपरामर्शाभावकूटो ह्यत्यन्ताभावः वह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नाभावोऽप्यत्यन्ताभाव एव, तयोर्नित्यत्वान्न प्रयोज्यप्रयोजकभावसम्भावना। तथाप्यत्र तत्सत्तानियतसत्ताकत्वरूपं क्षैमिकप्रयोज्यत्वमङ्गीकृत्य प्रकृतसङ्गतिः। 'धूमादीति"। प्रयोज्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वादिनिरुपणमत्र दुर्बद्धसुबद्धन्यायात् प्रकृतार्थस्य हृदयङ्गमत्वाय च बोद्धव्यम्।

"तद्वत्त्वमेवेति"। तथा च प्रयोज्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं धूमादिपरामर्शविशिष्टवह्न्यादिविधेयताकानुमितित्वं कार्यतावच्छेदकमपि तदेव प्रयोजकाभावप्रतियोगितावच्छेदकन्तु धूमादिपरामर्शत्वम्, कारणतावच्छेदकमपि प्रकृते तदेवेति समुदितार्थः। अनुमितित्वानिवेशे धूमादिपरामर्शाभावकाले वह्निविधेयताकशाब्दबोधोत्पत्त्या व्यतिरेकव्यभिचारस्स्यात्। विधेयत्वानिवेशे धूमादिपरामर्शाभावकाले वह्निमत्पर्वतो घटवानित्यनुमित्युत्पत्त्या व्यतिरेकव्यभिचार एव। उद्देश्यत्वानिवेशे पर्वतोद्देश्यकधूमादिपरामर्शा-

निवेश्यते । निवेश्यते चानुमितित्वम् । अन्यथा पर्वतोद्देश्यकवह्नि-विधेयकज्ञानत्वादेर्धूमादिपरामर्शाभावसमूहसमकाले तादृशशाब्द-बोधसाधारणतया पर्वतविशेष्यकवह्निप्रकारकानुमितित्वस्य धूमा-दिपरामर्शाभावसमूहसमकालायां वह्निमत्पर्वतो घटवानित्यनु-मितौ सत्त्वेन धूमादिपरामर्शाभावप्रयोज्याभावप्रतियोगितानव-च्छेदकत्वात् । इत्थञ्च धूमादिपरामर्शाभावसमूहस्य वह्निविधेय-कपर्वतोद्देश्यकानुमितित्वावच्छिन्नाभावप्रयोजकत्वे सिद्धे धूमादि-परामर्शाभावसमुदायो यदि पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमिति-त्वावच्छिन्नाभावव्यभिचारी स्यात् तदानुमितित्वावच्छिन्नाभाव-प्रयोजको न स्यात् इति तर्केण निरस्तायां व्यभिचारशङ्कायां स्वशक्यमेव धूमादिपरामर्शाभावसमुदायेन पर्वतोद्देश्यकवह्निविधे-यताकानुमितित्वावच्छिन्नाभावानुमानमिति विभाव्यते । तदा प्रकृतेऽपि तद्देशभेदप्रयोज्याभावप्रतियोगितावच्छेदकं तत्तद्रूपादि-मत्त्वमेव तन्नियतोत्तरवर्त्तितावच्छेदकं तु तद्देशसमवेतत्वम्, तत्तद्दे-

---

भावकाले चत्वरोद्देश्यकवह्न्यनुमित्युत्पत्त्या च व्यतिरेकव्यभिचार एव स्यादिति भावः। निष्पन्ने च प्रकृतविचारे उपसंहरति—"इत्थञ्चेति" । एवं रीत्या वह्न्यनुमितिस्थलसमर्थने प्रकृते तद्रूपाद्युत्पत्तिस्थलेऽपि प्रदर्शित-रीत्या निर्वाहमाह—"तदा प्रकृतेऽपीति" । तथा च तत्तद्देशस्य तत्तद्देश-समवेतत्वावच्छिन्नं प्रत्येव कारणत्वम् । तत्तद्देशभेदस्य तत्तद्देशसमवेताभाव-प्रयोजकत्वं कारणाभावस्य कार्याभावप्रयोजकत्वात्, तत्तद्देशसमवेतस्य तत्तद्रूपादिकं प्रति व्यापकत्वात्, व्यापकाभावप्रयोजकस्य सुतरां व्याप्याभाव-प्रयोजकत्वनियमात्, तत्तद्रूपाभावस्यापि तत्तद्देशभेदप्रयोज्यत्वात् प्रकृतेऽपि सर्वं चतुरस्रमिति समुदितग्रन्थस्याशयः ।

प्रकृतप्रदर्शितकार्यकारणभावगौरवं प्रदर्श्य लाघवात् वक्ष्यमाणकार्य-

शस्य कारणता तु तद्देशसमवेतत्वावच्छिन्ननियतपूर्ववर्तितता-वच्छेदकत्वम् । तद्देशसमवेतत्वसमानाधिकरणोभयावृत्तिधर्मा-वच्छिन्नाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगितावच्छेदकं च यत्तद्देश-व्यतिरिक्तत्वं तद्वत्त्वमेव । तद्देशसमवेतप्रतियोगिकाभावप्रयोजका-भावप्रतियोगितावच्छेदकं तु न निवेशनीयम्, द्रव्यत्वस्यापि तद्व्यक्तिसमवेतत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकत्वापत्तेः । जन्य-सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यापि तद्देशसमवेतप्रतियोगिका-भावत्वात् । प्रयोज्यप्रयोजकभावश्च अभावयोः स्वरूपसम्बन्ध-विशेषोऽतिरिक्तो वेत्यन्यदेतदिति मैवम्, तत्कर्मजन्यतावच्छेदक-वैजात्यविशेषावच्छिन्नोत्पत्तिं प्रति तत्कर्मतद्देशघटितसामग्रीणां बहूनां प्रयोज्यताकल्पने गौरवात् ।

तस्माद्वैजात्यविशेषावच्छिन्नसंयोगं प्रति तत्कर्मणः स्वविषय-केश्वरज्ञानीयवैजात्यविशेषावच्छिन्नवृत्तिप्रकारतानिरूपितसमवाय-संसर्गतानिरूपितविशेष्यतारूपपरम्परासंबन्धेन कारणत्वम्, ईश्वर-

---

कारणभाव एवादर्तव्य इति तद्घटकपदार्थाश्रयत्वेन भगवत्सिद्धिरावश्यकी-त्याह--"मैवमिति" । "तत्तत्कर्मेति" । तत्तत्कर्मजन्यतावच्छेदकवैजात्या-वच्छिन्ना अपि बहवः संयोगाः भवन्ति । अन्यथा वैजात्यमेव न सिद्ध्येत् । तथा च तत्तद्वैजात्याश्रयतत्तद्व्यक्तिं प्रति तत्तद्देशकर्मादिघटितसामग्र्या-स्तत्तद्व्यक्त्युत्पादकत्वकल्पने स्फुटमेव गौरवम् । स्वविषयके हि भगवज्ज्ञानं तु न नः यथार्थमेव भवति । तथा च तदीयतद्वैजात्यावच्छिन्नसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन वास्तविकतत्तद्संयो-गादीनां यत्रोत्पत्तिरिष्टा समुचिता तत्रैव कारणीभूतस्य तत्तत्कर्मणः सत्वात् तत्र तत्र कार्योत्पत्तौ न कोऽपि दोषः, तथा च कार्यकारणभावे लाघवमूलि-कैव प्रकृते परमेश्वरसिद्धिरिति हृदयम् ।

ज्ञानं च तत्तद्व्यक्तित्वेनैव निवेशनीयं लाघवात्। ज्ञानत्वेन निवेशे भ्रमीयतादृशविशेष्यतामादाय तत्कर्मणोऽन्यत्रापि सत्त्वात् तत्रापि विजातीयसंयोगजननापत्तेः प्रभात्वेन निवेशे चान्योन्याश्रयापत्तेश्च। न च विजातीयसंयोगाश्रयमात्रविशेष्यकं कस्यचिज्जीवस्य ज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन निवेश्यतामिति वाच्यम्, जीवांतरस्य तादृशज्ञानमादाय विनिगमनाविरहादतिरिक्तसिद्धेश्च। किं च ज्ञाननिष्ठायां कारणताघटकसंसर्गतावच्छेदकतायां धर्मत्वावच्छिन्नत्वानुमाने क्रियमाणे ज्ञानत्वादेरति-

---

"तत्तद्व्यक्तित्वेनैवेति"। ईश्वरज्ञानस्यैकत्वात् तद्व्यक्तित्वस्याखण्डोपाधित्वात् तस्य जातिवत्स्वरूपतो भानस्वीकारात् तेनैव रूपेण निवेशो युक्त इति भावः। "प्रभात्वनिवेशे चेति"। तथा च स्वकालीनप्रमाज्ञानीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन तत्तत्कर्मणः समवायेन वैजात्यावच्छिन्नसंयोगोत्पत्तौ कारणत्वेऽन्योन्याश्रयः स्यात्। तथा हि उदासीनदेशे कुतस्तत्संयोगप्रकारतानिरूपितविशेष्यता, यतः तद्देशे एव तत्संयोग उत्पद्यते इति संयोगप्रकारकप्रमात्वनिर्वचने संयोगोत्पत्तेरपेक्षा, उदासीनदेशे कुतः संयोगो नोऽत्पद्यते, यतस्तत्र न तत्संयोगप्रकारतानिरूपितप्रमीयविशेष्यतेति परस्परमन्योन्याश्रय इति भावः। "न चेति"—"कस्यचिदिति"—योगिप्रत्यक्षात्मके इत्यर्थः। एकेन कर्मणा अतीन्द्रियपार्थिववायवीयपरमाण्वादावपि संयोगजननात्तद्विषयकमितरेषां ज्ञानमसम्भवि योग्यमात्रविषयकज्ञानीयविशेष्यताया अन्यूनानतिप्रसक्तत्वविरहादुक्तमेव युक्तमितिभावः। एवं रीत्या जन्ययोगिप्रत्यक्षादेर्हेतुत्वसम्भवेपि तादृशयोगिप्रत्यक्षान्तरमादाय विनिगमनाविरह इति पुनः कारणबाहुल्यं स्यादिति भगवज्ज्ञानीयविषयतामादायैव कारणता युक्ता, तज्ज्ञानस्य असिद्धत्वात् न तेन सह विनिगमनाविरहः, कारणताघटकत्वेन तत्सिद्धौ धर्मिग्राहकमानमेव तत्र विनिगमकमितिभावः। दुर्बद्धसुबद्धन्यायादीश्वरज्ञानमेव

प्रसक्तत्वप्रतिसंधानादुभयावृत्तिधर्मस्य लाघवप्रतिसंधानादुभयावृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वासिद्धिः। इत्थञ्च कर्मान्तरकारणताघटकसंसर्गतावच्छेदकतायां ज्ञाननिष्ठायां धर्मावच्छिन्नत्वानुमाने प्रसिद्धज्ञानत्वादिधर्मावच्छिन्नत्वबाधे प्रसिद्धेतरधर्मत्वावच्छेदेन पूर्वोक्ततत्कर्म्मकारणताघटकज्ञाननिष्ठससर्गतावच्छेदकोभयावृत्तिधर्म-

---

तत्तद्विजातीयसयोगादिनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकसम्बन्धघटकमित्येव दृढ़ीकरोति "किञ्च ज्ञाननिष्ठायामिति"। तथा च विजातीयसंयोगम्प्रति स्वविषयकेश्वरज्ञानीया या वैजात्यविशेषाऽवच्छिन्ना समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता तन्निरूपितविशेष्यतारूपपरम्परासम्बन्धेन तत्तत्कर्मणः कारणतेति पर्यवसितम्। यत्र कारणतावच्छेदकः संसर्गस्तादृशविशिष्टविशेष्यतारूपः कारणतावच्छेदकसंसर्गताऽपि तत्रैव किन्तु परम्परया तदवच्छेदकता चेश्वरज्ञानेऽपि। प्रथमस्थले तद्घटकसंसर्गतापदेन परम्परया संसर्गताऽवच्छेदकतैव बोध्या। अतएव परत्र ज्ञाननिष्ठसंसर्गतावच्छेदकतायामिति स्वयमपि ग्रन्थकृता उक्तम्।

जीवज्ञानस्य संसर्गघटकत्वे तत्तज्जीवभेदेन ज्ञानभेदाद्विनिगमनाविरहेण कारणताबाहुल्यं तथाहीश्वरज्ञानस्य तद्घटकत्वे लाघवममुमेवार्थं पुनरपि दृढ़ीकरोति। "इत्थंचेति"—तथा च वैजात्यविशेषावच्छिन्नसंयोगम्प्रति तज्जनकीभूतकर्मणः स्वविषयकेश्वरज्ञानीयतद्वैजात्यावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन कारणता। एवमपरवैजात्यावच्छिन्नसंयोगम्प्रति तज्जनककर्मणस्तु सामान्यतो ज्ञानस्य संसर्गघटकत्वे भ्रमज्ञानमादायातिप्रसंगादिदोषः स्यात्। अन्यविधयोगिप्रत्यक्षादेरपि नानात्वादक्लृप्तत्वाच्च ईश्वरज्ञानस्य च एकत्र क्लृप्तत्वात्तस्यैव संसर्गघटकत्वम्। तद्वृत्युभयावृत्तिधर्मस्यैव संसर्गतावच्छेदकत्वमिति पूर्वोक्तधर्माऽभेदोऽपरकर्मनिष्ठकारणतावच्छेदकसंसर्गघटकतया भगवज्ज्ञानस्यैव धर्तुमौचित्येन तन्निष्ठसंसर्गतावच्छेदके भगवज्ज्ञाननिष्ठतद्व्यक्तित्वे युक्तितः सिद्ध इति

त्वप्रतिसंधानरूपक्लृप्तत्वलाघवप्रतिसंधानात् पूर्वोक्ततत्कर्मकारणताघटकज्ञाननिष्ठसंसर्गतावच्छेदकोभयावृत्तिधर्माभेदोऽपरकर्मकारणतावच्छेदकसम्बन्धघटकज्ञाननिष्ठावच्छेदकतावच्छेदकधर्मे भासते इति सकलधर्मकारणतावच्छेदकतासंबन्धज्ञानस्यैकत्वसिद्धिरिदमेव तत्तज्जीवज्ञानस्यानेकस्य तत्त्वतत्त्वेन संबन्धघटकत्वे गौरवम्। भागवतस्यैकज्ञानस्य तत्त्वे लाघवमिति लौकिकभाषया व्यवह्रियते। न चाभिमुख्यनामा कश्चित्सम्बन्धोऽभ्युपेयतां तावतापि कारणता कर्मणामुपपद्येतैवेति वाच्यम्। प्रतिकर्म भिन्नभिन्नाभिमुख्यकल्पने महागौरवात्। न चैक एवाभिमुख्यनामा संबन्धः सकलकर्मसाधारणः कल्प्यतामिति वाच्यम्। मिथिलास्थपुरुषकर्मणः तादृशाभिमुख्यसंबन्धेन काशीस्थपटेऽपि सत्त्वात्। तत्रापि संयोगजननापत्तेः, संबन्धातिप्रसङ्गे संबन्धिनोऽतिप्रसङ्गस्य निवारयितुमशक्यत्वात्। अन्यथाऽव्यवहितोत्तरत्वादीनामनतिप्रसक्तानां निर्वचनाय प्रयासोऽपि वृथैव स्यात्। किञ्च समवायवदाभिमुख्यस्यैकस्य कल्पने मिथिलास्थपुरुषक-

---

भावः। पुनरुक्तार्थे विचारम्प्रचारयति "न चाभिमुख्यनामेति"।—तथा च समवायाभिमुख्यान्यतरसम्बन्धेन कर्मणः तत्तत्संयोगम्प्रति कारणत्वं प्रकल्प्य प्रकृतिनिर्वाहे न काप्यनुपपत्तिरिति भावः। अग्रे ग्रन्थकर्तुरेव लेख्यमानः विचारव्याजेन पदार्थपरिचयं दर्शयति—'अन्यथेति"। तथा च कालिकाभिमुख्यादिसम्बन्धेन शरीरकर्म्मतात्त्वादौ अप्यबाधित एवेति भावः। विभागत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्व इति। तथाचाद्य कर्मणा जायमाने शरीरकर्मणः स्वविषयकेश्वरज्ञानीयविजातीयविभागत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतारूपसम्बन्धेन शरीरकर्मजन्यविभागवद्देश एव सत्त्वात् स्फुट एव व्यतिरेकव्यभिचार इत्याशयः।

र्मणः काशीस्थपटे तेन संबन्धेनाभावोपपादनाय तत्र तेन सम्बन्धेन तत्कर्मप्रतीतेर्भ्रमत्वसंपादनात् तत्तत्संबन्धस्य तत्तत्कर्मप्रतियोगिकत्वं सन्निहिततत्तद्देशानुयोगिकत्वावच्छिन्नमन्यदेशानुयोगिकत्वानवच्छिन्नमेषितव्यम्, एवमन्यकर्मस्थलेऽपीत्यनन्तप्रतियोगिकत्वादिकल्पने महागौरवम्। समवायनिष्ठतत्कर्मप्रतियोगिताकत्वेन तु न निर्वाहः, तस्य तत्कर्मासमवायिदेशानुयोगिकत्वानवच्छिन्नत्वात्। न च स्वजन्यविजातीयसंयोगप्रागभावसंबन्धेनैव तत्तत्कर्मणां कारणत्वमस्तीति वाच्यम्, अनन्तप्रागभावकल्पने गौरवात्। तस्मात्स्वविषयकेश्वरज्ञानीयविजातीयसंयोगप्रकारतानिरूपितसमवायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतैव तत्तत्कर्मणां कारणताघटकः संसर्ग इति। एवं विभागं प्रत्यपि कर्मणां तत्त्वतत्त्वेन कारणतावश्यं स्वीकार्या, अन्यथाभावकर्मणां जन्यत्वादितोऽपि विभागप्रसङ्गात्। तत्त्वेन कर्मणां कारणत्वे स्वीकृते कारणताघटकः संबंधः स्वविषयकेश्वरज्ञानीयविजातीयविभागप्रकारतानिरूपितसमवायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतैव स्वीकर्त्तव्या, तेन संबंधेन तत्कर्मणो जन्यत्वादावसत्त्वात् न तस्य विभागप्रसंगः। तत्तत्कर्मजन्यताऽवच्छेदकविभागत्वेऽपि वैजात्यमवश्यमेषितव्यम्। विभागत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वे व्यभिचारप्रसंगात्। न च स्वजन्य-

---

"न चेति"। तथा च विभागत्वमेव जन्यतावच्छेदकमस्तु जनकता च स्वजन्यविभागवृत्तित्वोपलक्षितविभागत्वावच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितेश्वरज्ञानीयविशेष्यतावत्वसम्बन्धेन सर्वस्यैव कर्मणो विभागवद्देशे सत्त्वान्न व्यभिचारादिशङ्कापीति शङ्का, तामपाकरोति "प्रकृत इति"। तथा च तत्तद्विभागे तत्तत्कर्मजन्यत्वम्, किं तावत्? स्वजन्यविभागवृत्तीत्यादिसम्बन्धेन स्वाव्यवहितप्राक्क्षणा-

विभागवृत्तिश्चेश्वरज्ञानीयप्रकारतानिरूपितसमवायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतैव कारणताघटकः संबन्धो वाच्यः किं वैजात्याभ्युपगमेनेति वाच्यम्। प्रकृतजन्यत्वस्यैव तदवच्छेदककोटिनिविष्टत्वे आत्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। स्वसामानाधिकरण्यस्वाव्यवहितोत्तरत्वाभ्यां स्वविशिष्टत्वरूपस्य जन्यत्वस्य संबंधघटकत्वे आत्माश्रयाभावेऽपि गौरवप्रसङ्गात्, लाघवेन वैजात्यसिद्धेः। न च विजातीयविभागे विलक्षणसंबन्धविशेषेण। वैमुख्यनाम्ना

वच्छेदेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगि तत्तत्कर्मकत्वमेव वाच्यमिति। निरुक्तजन्यत्वघटक जन्यत्वं किमिति प्रश्ने पुनः स्वजन्यविभागवृत्तीत्यादिक्रमेणैवोत्तरं वक्तव्यमिति स्वस्य स्वापेक्षत्वेनाविरल एव आत्माश्रय इति भावः। न च स्वविषयकेश्वरज्ञानीयविभागत्वावच्छिन्नसमवायावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वसम्बन्धेन सामान्यतो विभागत्वावच्छिन्नं प्रति तत्तत्कर्मणः कारणत्वाङ्गीकारे न कोऽप्यात्माश्रयादिदोष इति वाच्यम्, अश्वादिविभागं प्रति शरीरकर्मणोऽपि कारणत्वापत्तेः। "स्वसामानाधिकरण्येति"। शरीरकर्मणोऽश्वादिविभागे जनकत्व····················पूर्वोत्पन्ने चिरतरोत्तरकालोत्पन्ने वा शरीरविभागे तत्तत्शरीरकर्मणः कारणत्वनिरासायस्वाव्यवहितोत्तरत्वस्य निवेशः। एवं रूपेण··································· भावकल्पने सहस्रशः शरीरकर्मणः स्वस्वजन्यविभागसहस्रेण प्रत्येकेन कारणत्वं सिद्धमिति स्फुटमेव गौरवम्। तदपेक्षया शरीरविभागसहस्रेऽप्येकमेव वैजात्यं प्रकल्प्य कार्यकारणभावः साधीयानिति भावः।

पुनः प्रकृतविचारमेव सपल्लवीकरोति "न चेति"। "वैमुख्यनाम्नेति। तथा च वैमुख्यसमवायान्यतरसम्बन्धेन तत्तत्कर्मणो विजातीयभागे कारणत्वमित्यशयः। यत्र धनुश्शरयोरुभयोरेव विभागो जायते तत्र च शरकर्मणो वैमुख्यसम्बन्धेन धनुष्येव सत्त्वम्। इत्थञ्च शरे विभागजननार्थम्,

तत्कर्मणः कारणत्वमस्तु किमीश्वरज्ञानेनेति वाच्यम्, तस्य जन्यसम्बन्धस्य प्रतिकर्म भिन्नत्वेनानन्तसम्बन्धकल्पनापत्तेः, सकलकर्मसाधारणस्य तस्यैकत्वात् न तेन संबन्धेन जन्यत्वादावपि तत्कर्मसत्त्वेन, तत्रापि विभागप्रसङ्गात् । संयोगविभागरूपकार्यनियमनाय विलक्षणसंबन्धद्वयकल्पनापेक्षया ज्ञानस्यैकस्य कल्पन एव लाघवात् । विलक्षणकार्यद्वयस्य सम्बन्धे वैलक्षण्येनैवोपपाद्यत्वात् । विशेष्यत्वादेः सम्बन्धस्य क्लृप्तत्वात् तत्कल्पनागौरवाभावात्, ज्ञानाश्रयकल्पनस्य उत्तरकालिकत्वेनादोषत्वात् ।

समवायस्यापि समावेश आवश्यक इति द्रष्टव्यम् । उत्तरयति—"जन्यसम्बन्धस्य" इति । न च यथासंगोगस्य नानात्वेऽपि संयोगत्वजातिमादायानुगतरूपेणसकलकार्यनिर्वाहस्तथाऽत्रापि वैमुख्यजातिं प्रकल्प्य प्रकृतनिर्वाह इति वाच्यम्, वैमुख्यस्य द्रव्यादिपदार्थत्रयान्तर्गतत्वेन तत्र जातिकल्पनाया असम्भवात् । विमुखदेशवृत्तित्वस्यैव वैमुख्यपदार्थत्वात् यदेव वस्तु एकस्य विमुखं तदेवान्यस्याभिमुखमपि भवति । तथा च तद्देशवृत्तित्वमेव कस्यचिदाभिमुख्यं कस्यचिद् वैमुख्यमपि इति विनिगमनाविरहेणाभिमुख्यत्ववैमुख्यत्वयोरेकत्र समावेशेन साङ्कर्यप्रसङ्गाच्च । साङ्कर्यस्य जातिबाधकत्वे मानाभावः । द्रव्यादिपदार्थत्रयभिन्ने काल्पनिकपदार्थेऽपि जातिरङ्गीकार्या । यद्वा जातिवत्स्वरूपतो भासमानो ह्यखण्डोपाधिविशेषरूपधर्म एव सकलसंयोगसंग्राहकसंयोगत्वजातिवद् वैमुख्यत्वनामा सकलवैमुख्यसम्बन्धग्राहकोऽङ्गीकर्त्तव्यः । तथा च न कोऽपि दोष इति सम्भाव्य आह "सकलकर्मसाधारणेति" । जन्यत्वादाविति—तथा च प्रक्षिप्तशरवैमुख्य यथा धनुषि तथैवोदासीने जन्यत्वादिनानापदार्थेऽप्यस्तीति तत्रापि विभागप्रसङ्गः । प्रकृतविचारे लाघवमपि स्वमते दर्शयति "संयोगेति" । तथा च संयोगरूपकार्यनियमनाय आभिमुख्यनामा एकस्सबन्धः, विभागनियमनाय वैमुख्यनामा अपरस्सम्बन्ध इति

ज्ञानस्यैकस्य तदाश्रयस्यैकस्य च कल्पनापेक्षया लाघवानवकाशा-च्चेति—

कस्त्वां मातानुमातुं प्रभवति भवति स्वान्तर्वृत्तेर्निवृत्तिं
वेदः प्रोवाच वाचामपि निगमकवे ! वेद कस्ते प्रवृत्तिम् ।
वैजात्यात्त्वं तथापि स्वमतिविभवतः चिन्तितश्चेतसाभूः
कारुण्योद्रेकसिंधुप्रवर, मम मनाग्गोचरोऽस्या दृशः स्याः ॥

सम्बन्धद्वयकल्पनापेक्षया नित्यज्ञानीयविशेष्यताया एव सम्बन्धत्वकल्पन-लाघवमिति भावः । ज्ञानस्यैकत्वेऽपि तत्तत्प्रकारतानिरूपितविशेष्यताया वैलक्षण्यादेव विलक्षणकार्यद्वयनिर्वाहः । जन्यज्ञानानुरोधेन विशेष्यतात्वेन ससर्गताऽस्त्येवेति भावः ।

ननु तथापि ज्ञानाश्रयकल्पनप्रयुक्तं गौरवं केन वारितमित्यत्राह "ज्ञानाश्रयकल्पनस्येति" । तथा च फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति सिद्धान्तात् पश्चात् ज्ञानाश्रयस्य कल्पनेऽपि न दोष इति भावः । तुष्यतु दुर्जन इति न्याये-नाह "ज्ञानस्यैकस्येति" । तथा च तवापि सम्बन्धद्वयकल्पनं ममापि ज्ञानस्य तदाश्रयस्य च कल्पनेन पदार्थद्वयकल्पनमेवेति तुल्यमेव । तत्रापि तव पक्षे संसर्गतावच्छेदकधर्मद्वयं वैमुख्यत्वाभिमुख्यत्वात्मकमिति, तथापि तवैव गौर-वमिति हृदयम् ।

कार्यकारणभावविचारप्रणाल्यापि सम्बन्धघटकतयेश्वरज्ञानस्य तदा-श्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरावश्यकीत्यमुमेवार्थं स्तुतिमुखेन पद्येनोपसंहरति "कस्त्वा-मिति" । इत्थमन्वयो भवति—भगवद्विषये कः माताऽनुमातुं प्रभवति कोऽ-पि नेत्यर्थः । एतावता न्यायमतेन अगोचरः । एवं स्वान्तर्वृत्तेर्निवृत्तिं कः वेद ? कोऽपि नेति योगपथमाश्रित्याऽपि न भगवान् गोचरो भवितुमर्हति, हे निगमकवे ! =वेदात्मककाव्यकारिन् !, वाचामपि भवदग्रे कः प्रावाच, अर्थात् कस्य स्तवः काव्यचमत्कारो वा तव श्लाघनीयो भवेदितीत्थं

किंच वह्निप्राप्यधूमादिपरामर्शाणां पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति केन रूपेण हेतुत्वम् ? न तावद्धूमपरामर्शत्वेन, व्यभिचारप्रसङ्गात् । नापि वह्निव्याप्यपरामर्शत्वाभिधया सकलधूमादिपरामर्शसाधारण्या जात्या, चाक्षुषत्वादिजात्या साङ्कर्य्यभयेन तादृशजातेः स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् । न च मानसत्वव्याप्यैव सा जातिः चाक्षुषादिधूमादिपरामर्शोत्तरं मानस-

---

निर्णीय मया स्वबुद्ध्या नानुमितो न वा चित्तवृत्तिनिरोधात्मकयोगपथमाश्रित्यापि ध्यातः (न वा तव प्रवृत्तिज्ञानबलेन त्व ध्यातः) न च वा स्तुतिवाक्येन आराधयितुं मयाऽऽरब्धः, तर्हि किं कृतं त्वयेत्यत्राह "तथापीति" । स्वमतिविभवतस्तथापि चिन्तितः, परकृतानुमानादिविचारप्रणाल्या चेतसा चिन्तितोऽभूः । तथा च परकृतानुमानेनानुमीय तद्विचारप्रणाल्या निदिध्यासितोऽभूः । अतः परं तव साक्षात्कार एव भवितुमुचितः, परन्तु तत्र मम तु किमपि सामर्थ्यं नास्ति, किन्तु हे कारुण्योद्रेकसिन्धुप्रवर ! यत एतादृशस्त्वम् अतस्त्वमेव कस्मादपि वैजात्यात् मम अस्याः दृशः मनाक् मनागपि गोचरः स्याः । विलक्षणा जातिर्यस्यासौ विजातिः, तस्य भाव वैजात्यम्, तस्माद् वैजात्यादिति वैजात्यं स्वचेष्टाविशेषः । तेनैव गोचरो भव, न कस्यापि मननाध्यासनादिभिस्त्वं गोचरो भवितुमर्हं इति भावः । नवानुमानविचारे योऽवशिष्टः तन्तं विचारमारभते "किञ्चेत्यादिना ।" "व्यभिचारप्रसङ्गादिति" । यत्रालोकपरामर्षाद्वह्न्यनुमितिः, तत्र धूमपरामर्शरूपकारणं विनैव वह्न्यनुमितेरुत्पादाद्व्यतिरेकव्यभिचार इति भावः । पक्षान्तरमुपन्यस्यति "नापीति" । वह्न्यनुमिति जनकतावच्छेदकत्वेन सकलधूमालोकादिपरामर्शसाधारणीं जातिं प्रकल्प्य तेन रूपेण धूमालोकादिसकललिङ्गपरामर्शाणामनुगतरूपेण हेतुत्वोपगमान्न व्यभिचार इति भावः ।

उत्तरयति—"चाक्षुषत्वादीति" । धूमपरामर्ष एकश्चाक्षुष एकः शाब्दबोधात्मकः चाक्षुषत्वाभाववति शाब्दपरामर्षे वह्न्यनुमितिजनकता-

परामर्शोत्पत्तेरनन्तरमेव वह्न्यनुमितिरङ्गीकर्त्तव्या, क्षणविलम्बस्य सोढव्यत्वादिति वाच्यम्। दर्शितन्यायेन घटव्याप्यपरामर्शत्व-जातेरपि स्वीकर्त्तव्यतया तज्जात्या साङ्कर्य्यप्रसङ्गात्। न च वह्नि्व्याप्यघटव्याप्ययोः समूहालम्बनपरामर्शान्नानुमितिर्जायत इति वाच्यम्। सकलजनसिद्धाया वह्नि्नघटोभयसमूहालम्बनानु-मितेरपलापप्रसङ्गात्। ननु किमिदं सांकर्य येन जातित्वाभावः

वच्छेदकजातेः सत्त्वम्. वह्न्यनुमितिजनकतावच्छेदकजात्यभाववति घटादि-चाक्षुषे चाक्षुषत्वजातेः सत्त्वम्। उभयोश्च धूमपरामर्षात्मकचाक्षुषत्वे अनुमि-तिपरम्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सत्येकाधिकरणवृत्तित्वरूपसाङ्कर्यस्य जातिबाधकस्य तत्र सत्त्वान्न तत्र जातित्वकल्पनासम्भव इति भावः।

साङ्कर्यं निराकृत्य प्रकृते जातिसिद्धिमुपपादयति "नचेति" तथा च चाक्षुषशाब्दादिपरामर्षोत्तरं पुनर्मानसपरामर्षोत्पत्तिः, तेनैन सर्वेषामनुमितिः, प्रकृतनिर्वाहार्थं क्षणविलम्बः सोढव्य इति भावः। एतत्पक्षेपि साङ्कर्यमु-द्घाटय समुत्तरयति—"दर्शितेति" तथा च यथा बह्न्यनुमितिजनको मानप-परामर्षस्तथैव घाटनुमितिजनकोपि स्वीकर्त्तुमावश्यक एव। इत्थञ्च वह्न्यनुमितिजनकतावच्छेदकजात्यभाववति घटव्याप्यस्य मानसपरामर्षे घटा-नुमितिजनकतावच्छेदकजातेः निरुक्तजात्यभाववति वह्निव्याप्यस्य मानस-परामर्षे वह्न्यनुमितिजनकतावच्छेदकजातेः, तयोः समूहालम्बनमानसपरामर्षे उभयोः सत्त्वात् स्फुटमेव साङ्कर्यमिति भावः। सांकर्यस्य केन रूपेण जाति-बाधकतेति विचारमारभते—"नन्विति"। "अथेति" अत्र स्वाभाववद्वृत्तित्व-मित्यस्य स्वनिष्ठोभयावृत्तिधर्मविशिष्टप्रतियोगिताकाभाववद्वृत्तित्वमर्थः। उभयावृतिधर्मवैशिष्ट्यञ्च स्वनिष्ठनिरवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितत्व-स्वेतरनिष्ठावच्छेदकत्वानिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन। तेन द्रव्यत्वात्मकतद्व्य-क्तिघटत्वोभयाभाववद्वृत्तित्वस्य पृथिवीत्वे सत्त्वेऽपि न द्रव्यत्वमादाय साङ्कर्यम्। एवं सम्बन्धदिश्यपि पर्यालोचनीयम्।

साध्यते ? न तावत्परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वे सत्येकाधिकरणवृत्तित्वम् परस्परत्वस्यानुगतस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, नापि जात्यभावसमानाधिकरणत्वे सति जातिसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वे च सति जातिसमानाधिकरणत्वम् पृथिवीत्वादिजात्यसिद्धिप्रसङ्गात्, पृथिवीत्वस्य गुणत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वस्य गुणत्वाभावसमानाधिकरणत्वस्य द्रव्यत्वसमानाधिकरणत्वस्य च सत्त्वात् । न च तज्जात्यभावसमानाधिकरणत्वे सति तज्जातिसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वे च सति तज्जातिसमानाधिकरणत्वं तदिति वाच्यम् । यत्त्वतत्त्वयोरनुगतयोरभावात् । अथ स्वाभावसमानाधिकरणत्वस्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वस्वसमानाधिकरणत्वरूपैस्त्रिभिः सम्बन्धैः जातिविशिष्टत्वं साङ्कर्यम्, स्वाभावश्च स्वनिष्ठोभयावृत्तिधर्मनिष्ठनिरवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितसमवायसंबंधावच्छिन्नप्रतियोगिताको बोध्यः । तेन जलवृत्तित्वविशिष्टद्रव्यत्वनिष्ठतत्तावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावमादाय न पृथीत्वे द्रव्यत्वनिरूपितसाङ्कर्यापत्तिः, न वा कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्रव्यत्वाभावमादाय तदापत्तिः । स्वाभावाधिकरणता विशेषणताविशेषेण स्वाभावाधिकरणाधेयता च समवायेन निवेश्या, नातो द्रव्यत्वाभावस्य कालिकसंबन्धेनाधिकरणे घटादौ समवायेन विशेषणताविशेषेणाधिकरणे कर्मणि कालिकेन सत्वेऽपि पृथिवीत्वस्य साङ्कर्यापत्तिः । स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं च समवायेन स्वाधिकरणे विशेषणताविशेषेण वर्त्तमानो योऽभावस्तदीयोभयावृत्तिधर्मनिष्ठनिरवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितावच्छिन्नावच्छेदकत्वानिरूपिता वा समवायसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता, नातः कालिकेन पृथिवीत्वस्याधिकरणे कर्मणि विशेषणताविशेषेण घटादौ

कालिकेन वर्त्तमानस्याभावस्य निरुक्तप्रतियोगित्वसत्वेऽपि द्रव्यत्वस्य पृथिवीत्वनिरूपितसाङ्कर्यम्, न वा पृथिवीत्वाधिकरणे वर्त्तमानस्य जलवृत्तित्वविशिष्टद्रव्यत्वाभावस्य कालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्रव्यत्त्वाभावस्य वा प्रतियोगित्वसत्त्वेन द्रव्यत्वस्य तदापत्तिः। स्वसमानाधिकरणत्वं च समवायेन स्वाधिकरणे समवायेन वृत्तित्वम्, नातः कालिकेन कर्मत्वाधिकरणे घटादौ समवायेन, समवायेन कर्मत्वाधिकरणे कालिकेनवा पृथिवीत्वस्य वृत्तित्वेऽपि कर्मत्वेन साङ्कर्यम्, पृथिवीजलद्वित्वनिरूपित-

---

सम्बन्धदिश्यपि तदनुसन्धाने एवं निवेशः। स्ववृत्त्युभयावृत्तिधर्मवैशिष्ट्यञ्च प्रतियोगितायां स्ववृत्त्यैकत्ववृत्तित्त्वस्वसमानकालीनसमवायत्वगतैकत्ववृत्तित्त्वोभयसम्बन्धेन। प्रथमवृत्तित्वं च स्वनिरूपितकिञ्चित्संबन्धावच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन। द्वितीयवृत्तित्वञ्च स्वनिरूपितकिञ्चित्सम्बन्धानवच्छिन्नावच्छेदकतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वसम्बन्धेन बोध्यम्। एवं द्वियीयसम्बन्धमपि यथाश्रुतं परित्यज्य स्ववृत्तित्वरूपम् बोध्यम्। स्ववृत्तिश्वघटकवृत्तित्त्वञ्च स्ववृत्युभयावृत्तिधर्मविशिष्टप्रतियोगिताकाभाववद्वृत्तित्वरूपं बोध्यम्। अत्राप्युभयावृत्तिधर्मवैशिष्ट्यञ्च प्रतियोगितायां प्रदर्शितसम्बन्धद्वयेन बोध्यम्। द्रव्यत्वनिष्ठतद्व्यक्तित्ववत् पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टतत्तद्व्यक्तित्ववदभावमादाय समवायसंयोगोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकद्रव्यत्वाद्यभावमादाय द्रव्यत्वेन सह पृथिवीत्वे पृथिवीत्वेन सह द्रव्यत्वे वा न साङ्कर्यम्, स्वाभाववद्वृत्तित्वघटकाभावाधिकरणतायाः स्वसामानाधिकरण्यघटकाधिकरणत्वाधेयत्वयोश्च परिष्कारो मूलकृतैव स्पष्टीकृत इति तत्पर्यालोचनेनैव सर्वं चतुरस्रमिति निपुणं विभावनीयम्।

साङ्कर्यस्य पृथिवीत्वादौ वर्त्तमानस्य न जातित्वबाधकत्वमतो जातित्वेन वैशिष्ट्यप्रतियोगी निवेशितः। स्वत्वं चात्र परिचायकमतो नाननुगमः। न च पशुत्वं न जातिः तेजस्त्व-निरूपितसाङ्कर्यवत्त्वादित्यनुमाने हेत्वसिद्धिः, पशुत्वस्योपाधि-रूपतया समवायेन वृत्तिमत्त्वाभावात्, वादिद्वयसंमतहेतुमत्त्वस्य पक्षेऽपेक्षितत्वात्, जातित्वाभावस्वीकर्त्तृमते पशुत्वे हेतोरभावात् इति वाच्यम्, समवायविशेषणताविशेषान्यतरसंबन्धेन वृत्तिम-त्त्वस्य विवक्षितत्वात्। वृत्तौ समवायावच्छिन्नत्वस्य पूर्वोक्तस्य परित्यागादिति चेन्न, घटव्याप्यपरामर्शत्वेनासिद्ध-जातित्वेन वह्निव्याप्यपरामर्शत्वजातेः साङ्कर्यानुपपादनात् भूतत्वमूर्त्तत्वयोरुभयोरेव परस्परसाङ्कर्येण न जातित्वमिति प्राची-

---

समवायसम्बन्धघटितसाङ्कर्यं परिष्कृत्य तस्य जातिबाधकत्वे वदतो व्याघातन्यायेन तद्दूषयितुमुपन्यस्यति—"नचेति" "पशुत्वमिति" तथा च साङ्कर्यमेव हेतुं कृत्वा जातित्वाभावः साध्यते खलु। तत्र साङ्कर्यञ्च स्वा-भाववद्वृत्तित्वस्वाश्रयनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्वसामानाधिकरण्यैतत्त्रितयस-म्बन्धेन जातिविशिष्टत्वमेव वाच्यम्। प्रकृते सा जातिस्तेजस्त्वरूपैव। इत्थञ्च तेजस्त्वाधिकरणे पशुत्वस्य सिद्धान्तेऽखण्डोपाधिरूपतया तस्य समवायेन वृत्तित्वघटितस्वसामानाधिकरण्यरूपतृतीयसम्बन्धाभावेन साङ्कर्य-रूपहेत्वभावात् स्वरूपासिद्धिरिति भावः।

साङ्कर्यभयेन भूतत्वमूर्तत्वोभयमेव न जातिरेतदपि प्रकृतपरिष्कारे कथमुपपन्नीभविष्यतीत्याह—"भूतत्वमूर्त्तत्वयोरिति"। तथा च भूतत्वं न जातिः मूर्त्तत्वनिरूपितसाङ्कर्यवत्त्वात्, इत्यनुमानादेवात्र जातित्वाभावः साध्यते, तन्न सम्भवति समवायेन वृत्तिमत्त्वघटिततृतीयसम्बन्धाभावेन साङ्कर्यात्मकप्रकृतहेतोरसत्त्वेन स्वरूपासिद्धेरिति भावः।

नोक्तस्यानुपपादनाच्च समवायविशेषणतयोरन्यतरत्वेन संसर्गत्वे मानाभावात् । समवायस्य विशेषणतायाश्च संसर्गता समवायत्वेन विशेषणतात्वेन न केनापि वावच्छिन्नेत्युपगमादिति चेन्मैवम् स्वाभावाधिकरणविशिष्टत्वस्वविशिष्टाधिकरणनिष्ठाभावप्रति - योगित्वस्वविशिष्टाधिकरणविशिष्टत्वस्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वा-भावरूपैश्चतुर्भिः संबन्धैर्वस्तुविशिष्टत्वमेव साङ्कर्यम् । स्वाभावाधिकरणविशिष्टत्वं च स्वनिष्ठाभावीयसमवाय-संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकस्वाभाववत्त्वसम्बन्धेन स्वाभावाधिकरणस्य संबन्धित्वम् स्वनिष्ठाभावीयप्रतियोगितायां समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्वानिवेशे पशुत्वस्य तेजस्त्वेन साङ्कर्यं न स्यात् । तेजस्त्वाभावाधिकरण-गवादेः स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावस्य पशुत्वे तत्र जातित्ववादिनानभ्युपगमात्, संयोगादिसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य पशुत्वाभावस्य गवादौ सत्त्वात्, समवेतत्वस्य तेन तत्राभ्युपगमात्, विशेष्यस्य समवेतत्वस्य निवेशान्न जातित्वाभाववादिनः पशुत्वे साङ्कर्यरूपहेत्वसिद्धिः ।

यद्यपि स्वरूपसमवायान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावा-धिकरणे स्वरूपसमवायान्यतरसम्बन्धेन वृत्तित्व स्वरूपसमवायान्यतर-सम्बन्धावच्छिन्ननिरूपकताकस्वाधिकरणनिष्ठस्वरूपसमवायान्वतरसम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतियोगित्व-स्वरूपसमवायान्यतरसम्बन्धावच्छि-न्ननिरूपकताकाधिकरणतावन्निरूपितस्वरूपसमवायान्यतरसम्बन्धावच्छिन्न-वृत्तितावत्त्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन वस्तुविशिष्टत्वमेव साङ्कर्य्यम्, वाच्यम् । तथाच न त्वत्रापि प्राचीनमते नवीनमते वा दोषसम्भवः । नचा-न्यतरत्वेन संसर्गता न निबन्धकृत्सम्मतेति स्वयमेव मूलकृता प्रतिपादितम् । तथाच कथं प्रकृतनिवेशस्य सम्भव इति वाच्यम्, अवच्छेदकत्वनिरुक्तौ

तादात्म्यसाध्यतान्यतरसम्बन्धघटितपारिभाषिकावच्छेदकत्वलक्षणपरिष्कारस्य जगदीशेन लिखितत्वात् अन्यतरत्वेन संसर्गतायां मानाभाव इति कथयितुमशक्यत्वात्। न च घटजलान्यतरत्वमादाय पृथिवीत्वे साङ्कर्य्यम्, तादृशान्यतरत्वाभाववति पटे पृथिवीत्वस्य वृत्तेः पृथिवीत्वाभाववति जले तादृशान्यतरस्य वृत्तेः, घटे च द्वयोरेव वृत्तेरिति वाच्यम्, सिद्धान्तपरिष्कारेऽपि एतद्दोषस्यानुद्धारादगत्याऽन्यतरत्वभिन्नत्वेन वस्तुनो विशेषणीयत्वस्यावश्यकतया मन्निवेशेपि तथैव विशेषणीयत्वात्। न च तथापि घटजलोभयत्वस्य समवायेनाभाववति पटे पृथिवीत्वस्य पृथिवीत्वाभाववति जले समवायेन तादृशोभयत्वस्यैकाधिकरणे घटे पृथिवीत्वतादृशोभयत्वयोः सत्त्वेन साङ्कर्यमशक्यपरिहारमेवेति वाच्यम्, सिद्धान्तेपि तद् वारणस्याशक्यत्वात् व्यासज्यवृत्तिधर्मभिन्नत्त्वेनापि वस्तुनो विशेषणीयत्वात्। न च घटजलान्यतरद्द्रव्यम् अथवा घटजलोभयत्ववद्द्रव्यमित्याकारकजन्ययत्किञ्चित्प्रमीयविशेष्यत्वमादाय प्रदर्शितरीत्या साङ्कर्येण कथं पृथिवीत्त्वजातिसिद्धिरिति वाच्यम्, भेदविशिष्टान्यत्वे सति व्यासज्यवृत्तिधर्मविशिष्टान्यत्वेनानुगमघटकवस्तुनो विशेषणीयत्वात्। वैशिष्ट्यञ्च स्वतादात्म्य स्वावच्छिन्नत्वान्यतरसम्बन्धेन। इत्यञ्चान्यतरत्वस्य भेदद्वयावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदत्वरूपतया तदात्म्ये भेदवैशिष्ट्यात्। एवमन्यतमत्वस्यापि भेदकूटावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदात्मकतया तत्रापि तादात्म्येन भेदवैशिष्ट्यस्य सत्त्वात्तयोर्व्युदासः। द्वित्वत्रित्त्वादौ तादात्म्येन व्यासज्यवृत्तिधर्मवैशिष्ट्यसत्त्वादेव तयोरपि व्युदासः। भेदावच्छिन्नत्वेनान्यतरत्वावच्छिन्नविशेष्यताया एवमन्यतमत्वावच्छिन्नविशेष्यताया अपि व्युदासः। व्यासज्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नत्वेन च द्वित्वत्रित्वाद्यवच्छिन्नविशेष्यताया अपि व्युदासः।

नचैवं साङ्कर्येण भूतत्वमूर्तत्वोभयं न जातिरिति प्राचीनसिद्धान्तविरोधः। आत्मभिन्नत्वे सति विशेषगुणवत्त्वं भूतत्वमित्यत्र विनिगमनाविरहेण विशिष्टगुणवत्त्वे सत्यात्मभिन्नत्वमेव न कुतो भूतत्वम्। तथाच तादात्म्येन तत्र भेदवैशिष्ट्यसत्त्वात् कथं साङ्कर्यसम्पत्तिरितिवाच्यम्, मूर्तत्व-

मादायैव तत्र सांकर्यसम्भवात्। आत्मभेदविशेषगुणोभयाधिकरणत्वव्यक्ति तद्व्यक्तित्वेनोपादाय साङ्कर्यसम्भवाच्च।

न च तथापि कार्यत्वमादाय पृथिवीत्वजातौ साङ्कर्यं दुर्वारमेव। पृथिवीत्वाभाववति जले कार्यत्वस्य कार्यत्वाभाववति पार्थिवपरमाणौ पृथिवीत्वस्य घटात्मकैकाधिकरणे चोभयोर्वृत्तित्वेन तस्य स्फुटतरत्वादिति वाच्यम्, केवलसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववन्निरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतावत्व, केवलसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावन्निष्ठाभावीयससवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितावत्त्व, समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठनिरूपकताकाधिकरणतावन्निरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतावत्त्वतत्त्रितयसम्बन्धेन वस्तुविशिष्टत्वस्यैवसाङ्कर्यपदार्थतया प्रदर्शितदोषमात्रस्यासम्भवात् सर्वमवदातम्। नच साङ्कर्येण भूतत्वमूर्त्तत्वोभयं न जातिरिति प्राचीनसिद्धान्तासङ्गतिः, तयोः सिद्धान्तेऽखण्डोपाधिस्वरूपतया समवायघटितसामानाधिकरण्यात्मकतृतीयसम्बन्धाभावेन वस्तुविशिष्टत्वस्य तत्र सम्बलयितुमशक्यत्वादिति वाच्यम्, प्रकृते भूतत्वमात्मभेदविशिष्टविशेषगुणवत्वम्, एवं मूर्तत्वमप्यवच्छिन्नपरिमाणवत्वमेव। इत्थञ्चैतयोर्गुणात्मकतया समवायेन सामानाधिकरण्यादेः सुलभतया तयोः साङ्कर्यवत्वस्य प्राचीनसम्मतस्याक्षतत्वान्न कोपि अनुपपन्न इति दिक्।

दुर्बद्धसुबद्धन्यायात्पुनः पुनः साङ्कर्यविचारमेव निश्चिनोति— "पृथिवी जलेति"। अत्र पृथिवीपदेन पार्थिवघटादिर्बोध्यः। तथा च घटजलवृत्तिद्वित्वमादाय पृथिवीत्वे साङ्कर्यम्।

यद्वा पृथिवीपदेन भूतधात्री पृथिव्येव संग्राह्या। तथाच तादृशभूतधात्रीजलवृत्तिद्वित्वमादाय पृथिवीत्वे साङ्कर्यम्। तथाहि तादृशद्वित्वाभाववति (पटे) पृथिवीत्वस्य पृथिवीत्वाभाववति जले तादृशद्वित्वस्य घटे भूतधात्र्यां वा तादृशोभयत्वस्य वृत्तित्वात् स्फुटमेव साङ्कर्यमिति भावः।

ग्रन्थनिर्माणव्याजेन पदार्थपरिचयमपि प्रकाशयति—"न च पशुत्वे"ति। "तेजस्त्वे" ति। तथाच पशुत्वाभाववति साङ्कर्येणासिद्धजातिभावयोर्वह्निव्या-

प्यपरामर्षत्वघटव्याप्यपरामर्शत्वयोरेवं भूतत्वमूर्तत्वोभयोरप्यखण्डोपाधित्व रूपयोः प्राचीनसिद्धान्ताविरोधेन स्वबुद्धिवैभवबलेन साङ्कर्यलक्षणं परिष्कृत्य-सङ्गमयति "मैव" मिति। स्वाभावाधिकरणविशिष्टत्व, स्वविशिष्टाधिकरण-निष्ठाभात्वप्रतियोगित्व, स्वविशिष्टाधिकरणविशिष्टत्व, स्वनिष्ठाभावप्रति-योगित्वाभाववत्त्वैतच्चतुष्टयसम्बन्धेन वस्तुविशिष्टत्वमेव साङ्कर्यम्। तत्र स्वाभावाधिकरणविशिष्टत्वरूपः प्रथमसम्बन्धः। तद् घटकस्वाभावश्च स्ववृ-त्युभयावृत्तिधर्मनिष्ठनिरवच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता सती तदितरनिष्ठा-वच्छेदकत्वानिरूपिता या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता तन्निरूपको बोध्यः। तदधिकरणत्वं च स्वरूपसम्बन्धेन बोध्यम्। तादृशाधिकरणविशि-ष्टत्वं च स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवे-तत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वभावत्त्वसम्बन्धेन बोध्यम्। स्वविशि-ष्टाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगित्वरूपो द्वितीयः सम्बन्धः, तत्र स्वरूपेण स्वनिष्ठो योऽभावः तदीया या समवायसम्बन्धावच्छिन्वप्रतियोगितत्वविशि-ष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता तादृशप्रतियोगित्वसम्बन्धेन यत् स्वविशिष्टमधिकरणम्, स्वरूपसम्बन्धेन तन्निष्ठो यः समवायसम्बन्धा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्तत्प्रतियोगित्वम्, 'तृतीयसम्बन्धः स्वविशिष्टा-धिकरणविशिष्टत्वम्। तदर्थश्च स्वरूपेण स्वनिष्ठो योऽभावः तदीया या स्त्ररूपेण स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्न प्रतियोगित्व-विशिष्टसमवेतत्वसम्ब्रन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता तादृशप्रतियोगितासम्ब-न्धेन स्वविशिष्टं यदधिकरणम् स्वनिष्ठाभावीया या स्वनिष्ठाभावीयसम-वायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियो-गिता तादृशप्रतियोगिताकाभाववत्त्वसम्बन्धेन तादृशाधिकरणविशिष्टत्वरूपः चतुर्थं सम्बन्धः स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावरूपस्वरूपेण स्वनिष्ठो यः स्ववृ-त्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः, तदीया या तादृशसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरण-त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतादृशप्रतियोगिताकाभाववत्त्वमर्थः। तथाच

घटव्याप्यवत्तापरामर्षत्वरूपवस्तुविशिष्टत्वम् । वह्निव्याप्यवत्तापरामर्षेऽस्तीति तयोर्जातित्ववादपक्षे जातित्वाभाववादपक्षे च निरुक्तपरिष्कारेण साङ्कर्यसम्पत्तिः । तथाहि घटव्याप्यवत्त्वपरामर्षत्ववृत्त्युभयावृत्तिधर्माविच्छिन्नसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः, तदधिकरणम् वह्निव्याप्यपरामर्षः तद्विशिष्टत्वम् स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावत्त्वसम्बन्धेन स्वं बह्निव्याप्यपरामर्शः स्वरूपेण तन्निष्ठो जातित्वाभावपक्षे वह्निव्याप्यपरामर्शत्वाभावोऽपि प्राप्त इति तत्प्रतियोगित्वं तत्रास्तु, परन्तु तद्विशिष्टसमवेतत्त्वं तत्र नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वमस्त्येव । जातित्ववादपक्षे बह्निव्याप्यपरामर्शत्वस्य समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्याश्रयेन······घटत्वाद्यभाव इति तदीय प्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धेन तादृशपरामर्षवत्ता घटे वर्त्तते तादृशप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्वसम्बन्धेन स्वाश्रयविशिष्टत्वम् वह्निव्याप्यपरामर्षत्वे निराबाध धूमेवेत्युभयपक्षे प्रथमसम्बन्धसम्पत्तिः । द्वितीयसम्बन्धश्च स्वविशिष्टाधिकरणनिष्ठाभाव प्रतियोगित्वम् ।

अत्र स्वं घटव्याप्यपरामर्षत्वम् । (तदुभयविशिष्टत्वं) जातित्वाभावपक्षे स्वाश्रयेऽपि वर्तताम् किन्तु तत्प्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वं तत्र नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाश्रयाभावः (घट) व्याप्यपरामर्षत्वे प्राप्तस्तथाच स्वनिष्ठाभावपदेन स्वाश्रयाभावमादाय तदीया या स्वनिष्ठाभावीयसमवायावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्त्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता तेन सम्बन्धेन घटव्याप्यपरामर्षत्वरूपस्वस्याधिकरणं स्वाश्रय एव समवायावच्छिन्नतन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम् वह्निव्याप्यपरामर्षत्वेऽस्त्येव जातित्ववादपक्षेऽपि घटव्याप्यपरामर्षत्वस्य समवायेनाभावः स्वाश्रयेन प्राप्तः प्राप्तश्च घटत्वाद्यभावस्तत्प्रतियोगित्वं धटत्वादावस्तीति तादशप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वं तत्रैव न च घटव्याप्यपरामर्षत्वे इति तन्निष्ठस्वाश्रयाभावः प्राप्त एवेति स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छि-

न्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितासम्बन्धेन घट-व्याप्यपरामर्षत्वाधिकरणं स्वाश्रय एवेति तन्निष्ठसमवायावच्छिन्नाभाव-प्रतियोगित्वं बह्निव्याप्यपरामर्षप्त्वे नर्विवादमेवेत्युभयपक्षे द्वितीयसम्बन्ध-सम्पत्तिः स्त्रविशिष्टाधिकरणविशिष्टत्वरूपा । स्वं घटव्याप्यपरामर्षत्वम् । जातित्वाभावमते समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावः स्वाश्रयेऽपि प्राप्त इति स्वपदेन तदाश्रयमादाय तद्विशिष्टा या स्वनिष्ठाभावीयसमवाया-वच्छिन्नप्रतियोगिता सा घटव्याप्यपरामर्षत्वाभावीयप्रतियोगिता, साच तादृशपरामर्षे यद्यप्यस्ति । परन्तु तद्विशिष्टसमवेतत्वं तत्र नास्ति इति तादृशप्रतियोगिताविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाश्रया-भावस्तादृशपरामर्षत्वे प्राप्तः स्वनिष्ठाभावपदेन स्वाश्रयाभावमादाय तदीय-समवायावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना या प्रति-योगिता सा स्याश्रये वर्तत एवेति तादृशप्रतियोगितासम्बन्धेन स्वविशिष्ट-मधिकरणं स्वाश्रय एव दर्शितरीत्या स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छि न्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वं बह्निव्याप्यपरामर्शत्वे नास्तीति सत्सम्ब-न्धावच्छिन्ना या स्वनिष्ठा प्रतियोगिता सा घटव्याप्यपरामर्षनिष्ठा तादृशप्रति-योगिताकाभाववत्त्वसम्बन्धेन घटव्याप्यपरामर्षत्वविशिष्टाधिकरणीभूतस्वा-श्रयविशिष्टत्वम् बह्निव्याप्यपरामर्षत्वेऽस्तीति तृतीयसम्बन्धसम्पत्तिः । यद्यपि परामर्षत्वाद्वयोर्जातित्वावादपक्षे दर्शितदिशा घटव्याप्यवत्तापरामर्षत्वारूप-स्वस्य विशिष्टाधिकरणं स्वाश्रय एव, तत्र समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताक-बह्निव्याप्यपरामर्षत्वाभावः प्राप्त एवेति स्वनिष्ठाभावीयसमवायावच्छि-न्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धेन घटव्याप्यवत्ता परामर्षात्मकस्त्रवि-शिष्टाधिकरणपदेन घटव्याप्यताविधेयकः पुनरपि व्याप्यवत्ताविषयको यः समूहालम्बनात्मकः परामर्ष एव व्यवितः, तत्र समवायावच्छिन्नप्रति-योगिताकवह्निव्याप्यपरामर्षत्वाभावश्च न प्राप्तः, प्राप्तश्च घटत्वपटत्वा-द्यभावइति स्वनिष्ठाभावीयसमवायावच्छिन्न प्रतियोगित्वविशिष्टसमवेत-त्वसम्बन्धेन तादृशसमूहालम्बनपरामर्षस्तदघटत्वादौ वर्त्तते । निरुक्तसम्बन्धा-

वच्छिन्नप्रतियोगिताकतादृशसमूहालम्बनपरामर्षाभावो वह्निव्याप्यवत्ता-परामर्षत्वो निराबाध एवेति समूहालम्बनपरामर्षमादाय तृयीयसम्बन्ध-सम्पत्तिजीवित्वतदभाववादिमतद्वय एव साधीयसी। तां निपुणतां स्वय-मेवोहनीयामित्यास्तां विस्तरः ॥

अत्रेदं तत्वम्—स्वाभाववद्वृत्तित्वस्वसमानाधिकारणाभावप्रतियो-गित्वस्वसामानाधिकरण्येति त्रितयसम्बन्धेन जातिविशिष्टत्वम् वस्तुविशि-ष्टत्वं वा साङ्कर्यस्य प्राचां लक्षणं क्रमेण तत्तत्सम्बन्धस्थानापन्नं क्रमेण तत्तत्सम्बन्धापादानं सङ्गच्छते, किन्तु चतुर्थसम्बन्धोपादानस्य किं फलमिति-चेत्सत्यम्, तदनुपादाने पृथिवीजलोभयत्वमादाय पृथिवीत्वे जलत्वे वा साङ्कर्यं स्यात्। तथाहि स्वं तादृशोभयत्वम्। पृथिवीपदं भूतधात्रीपरम्। समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतादृशोभयत्वाभावाधिकरणं यद्घटा-दिकम्, तन्निष्ठत्वं पृथिवीत्वेऽस्ति। सम्बन्धघटकस्वपदग्राह्यं घटादिकमेव, तन्निष्ठाभावश्च पृथिवीत्वाभावो न प्राप्त इति तन्निष्ठाभावीयसमवाय-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वमपि पृथिवीत्वे नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्वसम्बन्धेन स्वाभावाधिकरणी-भूतघटादिविशिष्टत्वपृथिवीत्वे निराबाध एवेति प्रथमसम्बन्धसम्पत्तिः द्वितीयसम्बन्धश्च स्वविशिष्टाधिकरणविशिष्टप्रतियोगित्वरूपः स्वम् पृथि-वीजलोभयत्वम्। स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यदधि-करणम् तच्च जलादिकम्। अत्र स्वं जलमेवतन्निष्ठो योऽभावः, स च पृथि-वीजलोभयत्याभावो न प्राप्त इति स्वनिष्ठाभावीयप्रतियोगित्वविशिष्ट-समवेतित्व तत्र नास्त्येवेति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकजलाभावस्ता-दृशोभयत्वेऽस्तीति स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन तादृशोभयत्वाधिकरण जलमेवेति तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम् पृथिवीत्वेऽस्तीति द्वितीयसम्बन्ध-सम्पत्तिः। तृतीयश्च सम्बन्धः स्वविशिष्टाधिकरणविशिष्टत्वम्। स्वनिष्ठा-भावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यदधिकरणम्, स्वनिष्ठप्रतियोगिता-काभाववत्वसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वं तदर्थः। प्रतियोगिताद्वयी च स्वनिष्ठा-

भावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या। अत्र स्वं पृथिवीजलोभयत्वम्, समवायावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभावस्य पृथिव्यां जले वा न प्राप्त इति स्वपदेन पृथिवीं जलं वा समादाय तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वम् निरुक्तोभयत्वे नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः पृथिव्याजलस्य चाभावो निरुक्तोभयत्वे प्राप्त इति तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन स्वपदवाच्यनिरुक्तोभयत्वाधिकरणं पृथिवीजलञ्च भवतीति निरुक्तदिशा स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्नाया प्रतियोगिता सा च पृथिवीजलात्मकस्वनिष्ठैव, तन्निरूपकाभाववत्वसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वम् निरुक्तोभयत्वेऽस्तीति तृतीयसम्बन्धसम्पत्तिरपिजाता इति त्रिभिः सम्बन्धैर्वस्तुविशिष्टत्वपृथिवीत्वे जलत्वे वा सत्त्वात्साङ्कर्यसम्पत्या तत्र जातित्वं न स्यादिति चतुर्थसम्बन्धोपादानम्। चतुर्थसम्बन्धः स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावरूपस्तदर्थञ्च स्वनिष्ठाभावीया या स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वरूपः: स्वं पृथिवीजलोभयत्वम्। तत्रं स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वम् जलत्वं वा नास्तीति स्वनिष्ठाभावप्रतियोगिता तदुभयनिष्ठा स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन। सा च प्रतियोगितापृथिवीत्वे जलत्वे वाऽस्त्येवेति तादृशप्रतियोगित्वाभावरूपस्य चतुर्थसम्बन्धस्य सम्पत्तिर्नजातेति तादृशोभयत्वमादाय पृथिवीत्वे जलत्वे वा न साङ्कर्यसम्भावनेति चतुर्थसम्बन्धोपादानफलं निपुणतरं विचारणीयम्।

इदमुपलक्षणम्—अनुगमप्रणाल्यात्याधिकर(णत्व)सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावघटितत्वोभावत्वमादायापि। चतुर्थसम्बन्धोपादानफलम् भवितुमर्हति। परन्तु विस्तारभयान्न लिखितम्, स्वयमेवभावनया समूहनीयमितिदिक्।

प्रदर्शितसम्बन्धचतुष्टयघटकसम्बन्धादिनिवेशफलम् ग्रन्थकृतैव विश-

दीकृत्य सुलभरीत्या प्रदर्शितमिति तत्प्रदर्शनपंक्तिव्याख्यानञ्च नावश्यक मिति तदुभयमेवोपेक्षितम्। तथापि किञ्चित्प्रदर्श्यते साङ्कर्यदोषस्य जातिबाध(कता) सर्वेषामेव ग्रन्थकृतामक्षता तत्प्रणाली च। भूतत्वं न जातिः मूर्त्तत्वेन सह साङ्कर्यात्। प्रदर्शितचतुष्टयसम्बन्धेन मूर्तत्त्वरूपजाति विशिष्टत्वादितियावत्। एतादृशानुमान एव प्रदर्शितसम्बन्धचतुष्टयसम्बन्धेन वस्तुवैशिष्टयस्य विघटने ग्रन्थकृत्प्रदर्शितहेत्वप्रसिद्धिरूपोदोषः हेत्वभाववत्पक्षरूपस्वरूपासिद्धिरूपदोषो वा निरीक्षकैः सुधीभिः स्वयमेवप्रकरणसङ्गत्या सङ्घटनीय इति सर्वं चतुरस्रम्॥

प्रथमप्रतियोगितायांस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वानिवेश इति यथा कथञ्चित्सम्बन्धावच्छिन्नत्वानिवेश इति शेषः। तथा च मूर्तत्वनिष्ठाभावीया या समवायसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता भूतत्वनिष्ठा जातित्ववादपक्षे स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन भूतत्वेऽस्तीति तादृशप्रतियोगित्वाभावस्य तत्रासत्त्वाद्धेत्वभाववत्पक्षरूपस्वरूपासिद्धिः स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वेत्यत्र स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वेत्यत्रोभयत्रैव स्ववृत्तित्वं स्वसामानाधिकरण्यञ्च उपलक्षणतयैव निविष्टम्। नतु विशेषणविधया। तथा निवेशेभूतत्वमूर्तत्वोभयोर्जातिवादपक्षे साङ्कर्यं न स्यात्, चतुर्थसम्बन्धेन मूर्त्तत्वरूपवस्तुवैशिष्ट्यस्य भूतत्वेऽसम्भवात्। चतुर्थसम्बन्धः स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावरूपः। तदर्थश्च स्वनिष्ठाभावीया-या स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वम्। अत्र स्वम् मूर्तत्वम्। तत्र स्ववृत्तित्वविशिष्टजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकभूतत्वाभावः प्राप्त एव तदीया या भूतत्वनिष्ठा प्रतियोगिता सा च स्वसामानाधिकरण्यविशिष्टजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन भूतत्वे वर्त्ततएवेति निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्त्वस्य भूतत्वे विरहाच्चतुर्थसम्बन्धविघटनेन मूर्तत्वरूपवस्तुवैशिष्ट्यस्य तत्रासम्भवात्। उभयत्र उपलक्षणविधया निवेशे च स्ववृत्तित्वोपलक्षितजातित्वाधिकरणत्वसम्बधेन भूतत्वं मूर्तत्वेऽस्त्येवेति स्वनिष्ठाभावो भूतत्वा-

स्वविशिष्टाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं च स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वसंबन्धेन स्वविशिष्टं यदधिकरणं तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्। स्वनिष्ठाभावप्रतियोगिता च स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसंबन्धावच्छिन्ना ग्राह्या, स्वनिष्ठाभावप्रतियोगितायां समवायसंबन्धावच्छिन्नत्वनिवेशे घटव्याप्यपरामर्शत्वनिरूपितसाङ्कर्यस्य वह्निव्याप्यपरामर्शत्वे जातित्वाभावसाधकस्य तदुभयजातित्ववादिमतेऽप्रसिद्धः, सर्वस्यैवाधिकरणस्य स्वनिष्ठसंयोगविशेषणताद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावीयप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धेन सत्त्वेन घटव्याप्यपरामर्शत्वे तत्संबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य कस्याप्यधिकरणस्याभावस्यासत्त्वात् समवेतत्वस्य विशेष्यस्य निवेशान्न तदुभयजातित्वाभाववादिनां दर्शितरीत्यैव हेत्वप्रसिद्धिः।

स्वविशिष्टाधिकरणविशिष्टत्वं च स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यदधिकरणं स्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभाववत्त्वसम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वम्। प्रतियोगिता च द्वयी स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धावच्छिन्ना ग्राह्या, प्रतियोगित्वे समवायसम्बन्धावच्छिन्नत्वनिवेशात्। घटव्याप्यपरामर्शत्वस्य जातित्ववादिनाम्मते तद्विशिष्टाधिकरणाप्रसिद्धिर्निरस्ता। समवेतत्वस्य विशेष्यस्य निवेशाद् घटव्याप्यपरामर्शत्वस्य जातित्वाभाववादिनाम्मते तद्विशिष्टाधिकरणाप्रसिद्धिर्निरस्ताः।

द्वितीयप्रतियोगिताघटकसम्बन्धे तदुभयनिवेशप्रयोजनं तु मतद्वये वह्निव्याप्यपरामर्शत्वे घटव्याप्यपरामर्शत्वविशिष्टाधिकरणत्वविशिष्टत्वसंपत्तये। एवं भूतत्वमूर्त्तत्वयोरपि सङ्करः

बोध्य: । स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावश्च स्वनिष्ठाभावीया या स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्तदभाव: । प्रथमप्रतियोगितायां स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वानिवेशे भूतत्वमूर्त्तत्वयोरुभयोरेव जातित्ववादिनां मते हेत्वसिद्धिः । मूर्त्तत्वनिष्ठाभावीयसमवायादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन भूतत्वे सत्त्वात् । द्वितीयप्रतियोगितायां स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसंबन्धावच्छिन्नत्वानिवेशे तदुभयोर्जातित्वाभाववादिनां मते हेत्वसिद्धिः । मूर्त्तत्वनिष्ठाभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वरूपव्यधिकरणसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य विशेषणताविशेषेण भूतत्वे सत्त्वात् । स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वनिवेशे तु भूतत्वस्य तन्मते जातित्वाभावेन निरुक्तसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य तादृशप्रतियोगित्वाभावस्य भूतत्वे सत्त्वात् । स्वसमानाधिकरणत्वमपहाय स्वसमानकालीनत्वनिवेशे तदुभययोर्जातित्ववादिनां मते पुनरपि हेत्वसिद्धिः । मूर्त्तत्वनिष्ठाभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्यजातौ[1] प्रसिद्धस्य स्वसमानकालीनजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन भूतत्वे सत्त्वात् । स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वस्य सम्बन्धस्य निवेशे तु [2]जातावप्रसिद्धस्य तन्मात्रतादृशप्रतियोगित्वस्य तादृशव्यधिकरणसम्बन्धावच्छिन्न-

---

(१) अजातौ प्रसिद्धस्य स्वसमान० इतिसरस्ववतीभवनपुस्तकालयस्थपुस्तकानुसारी पाठः ।

(२) जातीतरे प्रसिद्धस्य तन्मते तादृशप्रति०— ”

प्रतियोगिताकाभावस्य भूतत्वे सत्त्वान्नासिद्धिः। न च स्वत्वस्य परिचायकतया वृत्तिमदभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य सकलजातिसाधारणतया तत्सामान्याभावस्य जातावसिद्धिः, तादृशप्रतियोगित्वप्रतियोगिकस्याभावस्य सम्वन्धघटकत्वे पृथिवीजलद्वित्वेन पृथिवीत्वस्य साङ्कर्य्यापत्तिः, पृथिवीजलद्वित्वनिष्ठाभावीयतत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य [1]घटादिनिष्ठस्य पृथिवीत्वेऽभावसत्त्वादिति वाच्यम्, उभयावृत्तिधर्मनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधिकरणनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधेयत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताभाव-त्वावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपिता या स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगितात्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता तन्निरूपकाभावत्त्वेन तत्तद्व्यक्तिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वाभावानामनुगमात्। यदि च द्वित्वादिव्यक्तिनिष्ठाभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितायाः सकलजातिनिष्ठतया स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नतदभावप्रतियोगिता शुद्धप्रतियोगितात्वेनैवावच्छिद्यते लाघवात् न तु द्वित्वादिव्यक्तिनिष्ठाभावीयप्रतियोगितात्वेन गौरवादितिनिरूक्ताभावप्रसिद्धिरिति विभाव्यते, तदोभयावृत्तिधर्मनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधिकरणनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताधेयत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिताभावत्वावच्छिन्नावच्छेदकताभिन्ना सती या प्रतियोगितात्वनिष्ठावच्छेदकताभिन्नावच्छेदकता तदनिरूपितप्रतियोगिताकाभावत्त्वेनानुगमो बोध्यः। स्वाभावाधिकरणत्वरूपप्रथमसम्बन्धघटकः स्वाभावः स्ववृत्त्युभयावृत्तिधर्मनिष्ठनिरव-

(१) "घटत्वादि" इति पुस्तकान्तरे पाठः।

च्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको बोध्यः । स्वविशिष्टाधिकरणनिष्ठाभावप्रतियोगित्वञ्च समवाय-सम्बन्धावच्छिन्नमवच्छिन्नावच्छेदकत्वानिरूपितञ्च ग्राह्यमतो न पूर्वोक्तदोषः । वृत्त्यनियामकोऽपि च सम्बन्धः प्रतियोगिता-वच्छेदको भवत्यभावस्य । न च तादृशभावकल्पने गौरवम् । तेन सम्बन्धेन तद्भेदस्यैव तेन सम्बन्धेन तदभावत्वात् तस्य क्लृप्त-त्वात् । न च तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोताककल्पनगौरवम्, तत्सम्बन्धावच्छेदकताया एव तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता-त्वात् तस्यापि क्लृप्तत्वात् । न च तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताकल्पनमभावे गुर्विति वाच्यं तत्सम्बन्धावच्छिन्न-प्रतियोगिताकत्वस्य तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपितानु-योगितारूपस्य भेदनिष्ठानुयोगितात्मकत्वेन क्लृप्तत्वात् । न च भेदनिष्ठानुयोगितायां तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपकत्वं न क्लृप्तमिति वाच्यम्, तत्संबधावच्छिन्नप्रतियोगिताया अवच्छेद-कतारूपाया निरूपकत्वं यत्प्रतियोगितायां क्लृप्तं तदेवानुयोगिता-यामपि कल्प्यत इत्यधिककल्पनाविरहात् ।

भावो न प्राप्यः प्राप्तश्च स्वजातीतरपदार्थाभावः, तदीया या प्रतियोगिता सा च जातीतरपदार्थनिष्ठा, स्वसामानाधिकरण्योपलक्षितजातित्वाधिकरण-त्वात्मकस्तस्या व्यधिकरणसम्बन्धः, तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः तस्या अभावः केवलात्वयीति भूतत्वेऽप्यस्तीति साङ्कर्य्यसम्पत्तिः । एवमुभयत्र स्वसमानकालीनजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वस्य निवेशे भूतत्वमूर्त-त्वयोर्जातित्ववादपक्षे तयोर्नित्यत्वात्कश्चित् पदार्थोह्यसमानकालीनो नास्तीति ।

प्रकृतसाङ्कर्यलक्षणे प्रकारमुद्रया निवेशप्रणाल्या स्वबुद्धिवैभवम्प्रकटी-

कुर्वन् विचारमारभते "नचेति"। तथा च सर्वासामेव जातीनां स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो जातीतरप्रसिद्धतत्तदभावमेव वृत्तिमदभावपदेनादाय तत्तत्प्रतियोगित्वाभावस्य कस्यामपि जातावभावात् सङ्कीर्णजातिस्वीकारपक्षे प्रदर्शितानुमाने हेत्वभाववत्पक्षरूपस्वरूपासिद्धिरिति भावः। उत्तरयति "उभयावृत्तीति"। तथा च स्वपदग्राह्यतद्व्यक्तिनिष्ठाभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वं नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकस्तादृशप्रतियोगित्वाभावो बोध्यः। घटकावच्छेद्यावच्छेदकभावप्रणाली ग्रन्थकृतैव विशदीकृता। दर्शितसामान्याभावस्य गुरुधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेनाप्रसिद्धिं शङ्कते—"यदिचेति"। यत्र द्वित्वाद्यात्मकतद्व्यक्तिनिष्ठाभावीयस्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वन्नास्तीति प्रतीतिर्भवति। तत्रैव तादृशसम्बन्धेन स्ववृत्तिजायित्वाधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वन्नास्तीति प्रतीतिर्भवतीतिपुरुषधर्मावच्छिन्नत्वेनाभावाप्रसिद्धिर्युक्तैवेतिभावः। न्यूनावारकपर्याप्तिमनिवेश्य केवलेतरवारकपर्याप्तिं निवेश्योत्तरयति—"तदोभयावृत्तिधर्मेत्यादि" निवेशस्तु ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृतः।

सिंहावलोकनन्यायेन प्रदर्शित साङ्कर्यलक्षणघटकप्रथमसम्बन्धं विवृणोति "स्वाभावाधिकरणेति" "स्ववृत्तीति"। तथा च स्ववृत्त्युभयावृत्तिधर्म्मनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ननिरवच्छिन्नावच्छेदकताविशिष्टा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नाप्रतियोगिता तन्निरूपकाभावो बोध्यः। तादृशावच्छेदकतावैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितत्वस्वेतरनिष्ठकिञ्चित्सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वानिरूपितत्वोभयसम्बन्धेन। तेन घटवृत्तिद्रव्यत्वात्मकतद्व्यक्तिर्नास्ति इति प्रतीतिसिद्धञ्चार्थमादायद्रव्यत्वपृथिवीत्वयोर्न साङ्कर्यम्। द्वितीयसम्बन्धं विवृणोति—स्वविशिष्टाधिकरणेति। तथा च स्वनिष्ठाभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टं तदधिकरणत्वं तच्च स्वाधिकरणमेव भवति। तन्निष्ठाभावप्रतियोगित्वम्, तच्च प्रतियोगित्वम्, समवायसम्बन्धावच्छिन्नम्, अवच्छिन्नावच्छेदकत्वानिरूपितम्। पृथिवीत्वस्य स्वनिष्ठा-

वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वाभावे गगनं न पारिमाण्डल्यात् इति वाक्यस्य प्रामाण्यानुपपत्तेश्च पारिमाण्डल्यनिष्ठजनकतानिरूपकत्वस्याप्रसिद्ध्या तदभावस्य गगने बोधयितुमशक्यत्वात्, गगननिष्ठजन्यतानिरूपकत्वस्याप्रसिद्ध्या तदभावस्यापि पारिमाण्डल्ये बोधयितुमशक्यत्वात्। तस्माज्जन्यजनकभावसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकः पारिण्डल्याभाव एव गगने बोध्यत इति भवति वृत्त्यनियामकोऽपि सम्बन्धः प्रतियोगितावच्छेदक इति। ननु भूतत्वं केन रूपेण पक्षो यदवच्छिन्नेन जातित्वाभावः साध्यते, न तावद् भूतेतरासमावेतत्वविशिष्टसकलभूत-

---

भावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन यदधिकरणं घटादिकं तन्निष्ठाभावीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य समवायावच्छिन्नप्रतियोगित्वस्य च द्रव्यत्वे सत्वेन पृथिवीत्वद्रव्यत्वयोर्न्न साङ्कर्यम् समवायसम्बन्धावच्छिन्नसावच्छिन्नावच्छेदकत्वानिरूपितस्य पृथिवीनिष्ठाभावप्रतियोगित्वस्य द्रव्यत्वेऽसम्भवादिति ध्येयम्।

दर्शितसाङ्कर्यलक्षणस्य परम्परासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावघटिततया परम्परासम्बन्धस्य वृत्यनियामकत्वात् वृत्यनियामकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यास्वीकारात् कथङ्कारमेतल्लक्षणम् भवितुमर्हतीति विचारमारभते—"वृत्यनियामकोऽपि च सम्बन्ध इति। वृत्यनियामक सम्बन्धस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वीकारे न किमपि गौरवमिति ग्रन्थकृतैव न च चतुष्टयेन स्पष्टीकृतम्। किञ्च तस्याभावप्रतियोगितावच्छेदकस्वीकारस्यावश्यकत्वे युक्त्यन्तरमपि प्रदर्शयति—वृत्यनियामकसम्बन्धस्येत्यादि सा च युक्ति 'गगनं न पारिमाण्डल्यात्" इत्यारभ्य ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृतेति तद्व्याख्यानेन कृतम्॥

साङ्कर्यस्य केन रूपेण जातित्वबाधकतेति विचारस्य भूमिकामारचयति—"ननु भूतत्वमिति"। प्रसिद्धेरिति। जातित्वाभाववादिमते सकलभूत

समवेतत्वेन तादृशधर्मावच्छिन्नस्य भूतत्वे जातित्वाभाववादिनां मतेऽप्रसिद्धेः, भूतेतरसमवेतत्वमात्रस्य पक्षत्वे पृथिवीत्वादावंशतो बाधः स्वरूपासिद्धिश्च, सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे सिद्धसाधनम्। पृथिवीभेदादौ रूपादौ च भूतेतरासमवेते जातित्वाभावस्योभयवादिसिद्धत्वात्। न च भूतपदशक्यताऽवच्छेदकत्वेन पक्षत्वे भूतत्वे जातित्वाभाववादिनां मते बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणस्यैव भूतपदशक्यताऽवच्छेदकत्वेन तत्र निरुक्तवस्तुविशिष्टत्वरूपहेत्वसिद्धिः। भूतपदस्य नाना-

---

समवेतस्यैकपदार्थस्यास्वीकारादिति भावः। "अशंतोबाध" इति। पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन पृथिवीत्वादौ साध्याभावात्मकस्य जातित्वस्य सत्त्वादंशतो बाधः। साङ्कर्यात्मकवस्तुविशिष्टत्वरूपहेतोः पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन पृथिवीत्वादावेवाभावसत्त्वादंशतः स्वरूपासिद्धिः सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे सिद्धसाधनम् ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृतम्। भूतपदशक्यदावच्छेदकत्वेन पक्षत्वे स्वरूपासिद्धिर्ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृता। भूतपदशक्यतावच्छेदकत्वेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे सिद्धसाधनम् ग्रन्थकारेणैव स्पष्टीकृतमिति ध्येयम्।

भूतत्वे जातित्वाभावसाधने पक्षतावच्छेदकं निश्चिनोति "इति चन्नेति"। "भूतेतरेति"। भूतेतरासमवेतत्वं प्रकृते यथाश्रुतमेव। सकलभूत समवेतत्वं च पारिभाषिकं प्रकृते निवेशयति "भूतनिष्ठेति"। तथा च भूतनिष्ठो योऽन्योन्याभावस्तदीय प्रतियोगितानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताशून्यत्वमेव तदित्यर्थः। प्रकृते एवं विधं रूपमभावत्वमेव। तस्य भूतेतरासमवेतत्वमस्ति व्यधिकरण सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकाभावानङ्गीकारात्। भूतनिष्ठभेदीयप्रतियोगितानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताशून्यत्वमप्यस्तीति उक्तरूपेणाभावत्यादिधर्म्म एव पक्षान्तर्गतः।

र्थतया गगनविशेषवृत्तिवैजात्यस्यापि भूतपदस्य शक्यताऽवच्छेदकत्वेनांशतो बाधस्वरूपासिद्धिप्रसंगात् सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वे प्राणित्वस्य भूतपदशक्यताऽवच्छेदकस्योपाधिरूपतया तत्र जातित्वाभावस्योभयवादिसिद्धत्वेन सिद्धसाधनादिति चेन्न । भूतेतरासमवेतत्वविशिष्टसकलभूतसमवेतत्वेनैव पक्षत्वाभ्युपगमात् । सकलभूतसमवेतत्वञ्च भूतनिष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताशून्यत्वम् व्यधिकरणसम्बन्धस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वानभ्युपगमात् निरुक्तं विशिष्टं रूपमभावे प्रसिद्धमिति, भूतत्वमूर्त्तत्वयोर्जातित्वाभाववादिनामपि न पक्षतावच्छेदकाप्रसिद्धिः । न वा बाधस्वरूपासिद्धो तस्माद्घटव्याप्यपरामर्शत्वेन सांकर्यान्न वह्निव्याप्य-

---

"न वा बाधस्वरूपासिद्धी" इति । निरुक्तपक्षतावच्छेदकावच्छिन्नेऽभावत्वादिधर्म्मे जातित्वाभावोऽस्त्येवेति न बाधः । प्रदर्शितचतुष्टयसम्बन्धेन द्रव्यत्वाद्यात्मकवस्तुविशिष्टत्वमपि तत्राक्षतमेव । तथाहि स्वं द्रव्यत्वम्, तदभावाधिकरणं यद्गुणादिकं तन्निष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाभावीयप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वमभावे नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक गुणाद्यभाववत्वं तत्राक्षतमेव । एवं स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धेन किमपि वस्तु तत्र नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवस्तुमात्रस्याभावोऽभावत्वेऽस्तीति स्वनिष्ठतादृशाभावप्रतियोगितासम्बन्धेन स्वाधिकारणम् जगदेव, तन्निष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाभावप्रतियोगित्वमपि अभावत्वे निराबाधमेव । एवं प्रदर्शितरीत्या स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्ब-न्धावच्छिन्ना याऽभावत्वनिष्ठाभावीयप्रतियोगिता तेन सम्बन्धेनाभावत्वाधिकरणम् जगदेव स्वनिष्ठाभावीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगित्वविशिष्टसमवेतत्वसम्बन्धेन किमपिवस्त्वभावत्वे नास्तीति तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्र-

परामर्शत्वं जातिरिति सिद्धम् । अखण्डोपाध्योरपि सांकर्यस्य दोषत्वे विशेषणतासम्बन्धघटितं पृथगेव तद्वक्तव्यम् । ननु सांकर्यस्य

तियोगिताकाभाववत्त्वसम्बन्धेन वस्तुमात्रमेव तत्रास्तीति तृतीयसम्बन्धसम्पत्तिः । एवं स्ववृत्तिजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन सर्वापि जातिः द्रव्यत्वेऽस्तीति तादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकजातीतरपदार्थभाव एव द्रव्यत्वनिष्ठः प्राप्त इति । स्वनिष्ठाभावीया या तादृशसम्बन्धावच्छिन्ना प्रतियोगिता सा जातीतरपदार्थनिष्ठा सा च स्वसमानाधिकरणजातित्वाधिकरणत्वसम्बन्धेन कथमप्यभावत्वे नास्तीति व्यधिकरणतादृशसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतादृशप्रतियोगित्वाभावः केवलान्वयित्वेनाभावत्वेपि निराबाध एवेति चतुर्थोऽपि सम्बन्धः सम्पन्न इति निरुक्तचतुष्टयसम्बन्धेन द्रव्यत्वाद्यात्मकवस्तुवैशिष्ट्यस्याभावत्वादिरूपपक्षे निराबाध इति स्वरूपासि(द्धि)रपि नेतिभावः ।

ग्रन्थप्रणालीप्राप्तया स्वबुद्धिवैभवेन नूतनं विचारमारभते—"अखण्डोपाध्योरपीति" । 'साङ्कर्यस्य दोषत्व" इति । अखण्डोपाधौ जातित्वाभावस्तु सर्वमतसिद्ध एव । तत्र साङ्कर्यस्य दोषत्वे तु निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभाव एव साध्यो भवतीत्यर्थः । अखण्डोपाधौ तु चतुर्थसम्बन्धासम्पत्या वस्तुविशिष्टत्वरूपसाङ्कर्यस्यासम्भवेन तत्र साङ्कर्यसम्पादनमार्गं प्रदर्शयति विशेषणतासम्बन्धघटितं पृथगेव तद्वाच्यमिति । तथाचात्रापि वस्तु विशिष्टत्वमेव साङ्कर्यम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववद्वृत्तित्वस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठनिरूपकताकाधिकरणतावन्निष्ठाभावीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताश्रयत्वस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठनिरूपकताकाधिकरणतावन्निरूपितस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नाधेयत्वाभाववत्त्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन बोध्यम् । इत्थञ्च निरुक्तवस्तुविशिष्टत्वरूपसाङ्कर्यहेतुना बह्निव्याप्यपरामर्षत्वादिरूपाखण्डोपाधौ निरवच्छिन्नप्रकारत्वाद्यभावः साधनीय इत्याशयः ।

साङ्कर्यस्य जातित्वाभावसाधकतायां किं राज्ञामाज्ञास्ति किं वा कापि युक्तिरप्यस्ति इति विचारमारभते—"ननु साङ्कर्येति" ।

जातित्वाभावव्याप्यत्वे किम्मानमिति चेत्–अनुमानमित्यवेहि। तथाहि–सांकर्यविशिष्टं वस्तु निरवच्छिन्नप्रकारत्वतदभावान्यतरवत् मेयत्वादित्यनुमाने प्रसिद्धनिरवच्छिन्नप्रकारत्वबाधेऽप्रसिद्धकल्पनागौरवप्रतिसन्धाने निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभावाभिन्नतादृशान्यतरस्मिन् सांकर्यविशिष्टवस्तुत्वावच्छेदेन सिद्धे निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभावव्याप्यत्वस्य सांकर्येऽर्थतः सिद्धे तेन

निरवच्छिन्नप्रकारत्वकल्पने गौरवमिति तदभावो लाघवज्ञानसहकारेण सिद्ध्यतीति ग्रन्थकृतामाशयः। न च जातावपि निरवच्छिन्नप्रकारता कथं प्रसिद्धा, तत्रापि निरुक्तानुमानबलेन तत्तदभाव एव सिद्ध्यताम् इति वाच्यम्, तथासति निरवच्छिन्नप्रकारत्वस्याप्रसिद्ध्या प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या तदभावस्य साधयितुमशक्यत्वात्। न च निरवच्छिन्नप्रकारत्वाप्रसिद्धिभयेनैव यदि जातौ निरवच्छिन्नप्रकारता साध्यते तदा वैपरीत्येन जातीतरपदार्थ एवमाकल्प्यताम्, जातौ तदभावः कुतो न कल्प्यते इति वाच्यम्, अनुभवविरोधात्। घटो द्रव्यमस्तीत्यादि प्रतीतौ घटत्वादिजातेः स्वरूपतो भानस्य दर्शनात् तत्र निरवच्छिन्नप्रकारत्वम् युक्तियुक्तम् जातीतरपदार्थस्य स्वरूपतो भानासम्भवेन तदंशे भासमानेन धर्मेण तन्निष्ठप्रकारताया अवच्छेद्यत्वस्यापलपितुमशक्यतया जातावेव निरवच्छिन्नप्रकारताया युक्तियुक्तत्वात्। किञ्च घट इत्यादिज्ञानीयघटत्वादिनिष्ठप्रकारता निरवच्छिन्ना स्वनिरूपकज्ञानविषयधर्मासमानाधिकरणत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम् यथा घट इत्यादिज्ञानीयप्रकारता अपि च घटवानित्यादिज्ञानीयप्रकारता सावच्छिन्ना स्वनिरूपकज्ञानविषयधर्मसमानाधिकरणत्वात् यन्नैवं तन्नैवम् इति यथा घट इत्यादिज्ञानीयप्रकारतावदित्यनुमानाभ्यां जातौ निरवच्छिन्नप्रकारताया जातीतरे सावच्छिन्नप्रकारतायाश्च सिद्धेः।

"अर्थतस्सिद्धाविति।" साङ्कर्यं निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभावव्याप्यं निर-

जातित्वाभावव्याप्यानुमामानात् अस्यैवार्थस्य सांकर्य्यविशिष्टस्य जातित्वकल्पने निरवच्छिन्नप्रकारताकल्पनगौरवं बाधकमिति लौकिकभाषया व्यवहार इति दिक्। ननु शक्तिविशेषेणैव वह्निव्याप्यपरामर्शाणां कारणतेति चेन्न, घटव्याप्यपरामर्शादीना-मप्यपरापरशक्तिविशेषेण कारणत्वेऽनन्तशक्तिकल्पनापत्तेः। तस्मात्पर्वतनिष्ठोद्देश्यताकवह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नम्प्रति

वच्छिन्नप्रकारत्वासमानाधिकरणत्वात् घटत्वादिवत् तेनेति निरवच्छिन्नेने-त्यर्थः। तथा च निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभावव्याप्यत्वेनेत्यर्थः। साङ्कर्यं जातित्वाभावव्याप्यं निरवच्छिन्नप्रकारत्वाभावव्याप्यत्वात् रुपादिवत् एवं रीत्यैवानुमानाकारो बोध्यः।

ग्रन्थप्रणाल्या स्वबुद्धिवैभवं प्रदर्शयन् पदार्थान्तरविचारमुपक्रमते "नन्वति"। "शक्तिविशेषेणैवेति।" अयं भावः घटव्याप्यवत्ता परामर्शत्वेन सह साङ्कर्यात् वह्निव्याप्यपरामर्शत्वं जातिर्न भवितुमर्हति, परामर्शघटकं यावन्तं पदार्थं कारणतावच्छेदककुक्षौ निविश्य कारणत्वकल्पने महद्गौरव-मिति बह्न्यादिनिष्ठदाहजनकतावच्छेदकशक्तिवत्तत्तत्परामर्शे विलक्षणां शक्तिं प्रकल्प्य तेनैव लघुरूपेण इहास्त्विति कर्त्तुराशयः।

उत्तरयति "इति चेन्नेति"। तथा च पक्षसाध्यहेतुभेदेन परामर्शाणां नानात्वात्तावत्संख्यकमिति विलक्षणशक्तिकल्पनमपि न युक्तियुक्तमिति भावः।

परामर्शस्य कारणतां निश्चिनोति "तस्मादिति।" यद्यत्पदार्थस्य यत्र यत्र येन येन सम्बन्धेन सत्ताऽस्ति तत्तद्विशेष्यकतत्तदसम्बन्धावच्छिन्न-तत्तत्प्रकारकत्वमपि ईश्वरज्ञानेऽवश्यं कल्पनीयम्। इत्थञ्च यद् यद्पराम-र्शोऽत्र सत्यमिति ज्ञायते अव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नत्वस्वसामानाधिकरण्योभ-यसम्बन्धावच्छिन्नतत्तदनुमितिनिष्ठप्रकारतानिरुपितविशेष्यतासम्बन्धेन भावे

तादृशानुमितिनिष्ठा या स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसंसर्गावच्छिन्ना प्रकारता तन्निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनेश्वरज्ञानविशिष्टज्ञानत्वेन कारणता, परामर्शाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्यापि स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन ईश्वरज्ञानविशिष्टतया परामर्शोत्पत्तिक्षणेऽप्यनुमित्यापत्तेः सम्बन्धघटकतयोत्पत्तिनिवेशः। न चानुमित्यनन्तरमनुमित्यापत्तिः, पक्षताया अपि कारणत्वाभ्युपगमात्। न च यत्रसिद्ध्यात्मकपरामर्शानन्तरमिच्छा तत्रानुमितिर्न स्यादिति वाच्यम्, क्षणविलम्बेन परामर्शानन्तरोऽत्पत्त्यनन्तरमेव तत्रानुमितिस्वीकारात्। न च ज्ञानत्वं विहाय-

---

ज्ञानविशिष्टत्वं परामर्शात्मकज्ञानेऽस्त्येवेत्यत्रैति। तेन रूपेणैव अत्र परामर्शस्य कारणत्वात् अर्थात् स्वात्मकाद्यनुमितिं प्रति निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नान्यनिष्ठप्रकारतानिरुपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानविशिष्टज्ञानत्वेन सर्वत्र कारणतेति भावः।

"न चानुमित्यनन्तरमिति"। यद्यप्यनुमित्यन्तरमनुमितिरप्रसिद्धेति स्वपदेनाप्रसिद्धोपादानमसंम्भवि, तथापि विद्यमानानुमतिमेव स्वपदोपायतन्निष्ठनिरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानविशिष्टपरामर्शात्मकज्ञानस्य प्रसिद्धानुमितिक्षणेऽपि सत्त्वादग्रिमक्षणे संम्भवत्यनुमित्यापत्तिरित्याशयः। 'पक्षताया अपीति।" सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपपक्षताया अपीत्यर्थः। पुनः पुनः प्रकृतविचारमेवं पल्लवीकरोति—"न च ज्ञानत्वं विहायेति।" "सविषयकत्वमिति।" तथा च सिद्ध्यात्मकपरामर्शोत्तरजायमानसिसाधयिषात्मकत्वसविषयकमेव निरुक्तोभयसम्बन्धेन ईश्वरज्ञानविशिष्टसविषयकमादाय तदग्रिमक्षणेऽनुमितिरप्रत्यूहेति पक्षताया अपि पृथक्कारणतास्वीकारोऽपि नावश्यक इति भावः।

सविषयकत्वं कारणतावच्छेदकमस्त्विति वाच्यम्, अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नसंस्कारस्यापि निरुक्तसंसर्गेण तज्ज्ञानविशिष्टसविषयकतया तस्योत्तरकालेऽप्यनुवृत्तेरनुमित्यापत्तेः । यदि च बुद्ध्यादिषट्कवृत्तिर्जातिः प्रामाणिकी, तदा सैव कारणता-

---

सविषकत्वेन कारणतां निराकरोति—"वाच्यमिति ।" तथा च तादृशसंस्कारस्यानुमितिनाशोत्तरमपि चिरकालं सत्वात् तदानीमनुमित्यापत्तिरिति भावः । इदमुपलक्षणम्—सामान्यरूपेण निवेशसम्भवे विशेषरूपेण निवेशस्याऽन्याय्यत्वादित्यादि नियमबलेन सविषयकत्वेन निवेशः कृतः । उक्तनिवेशोऽपि गौरवमन्तरेणैव आदरणीयः । प्रकृते सविषयकत्वेन कारणत्वे कारणतावच्छेकत्वमपि सावच्छिन्नमिति ज्ञानत्वस्य तु निरवच्छिन्नमिति सविषयकत्वेन निवेशो न युक्तियुक्त इति हृदयम् ।

सविषयकमात्रस्य जातिपुरस्कारेण कारणत्वं सम्भाव्याशङ्कते 'यदि चेति" । "बुद्ध्यादिषट्केति" । विभुविशेषगुणानां स्वोत्तरोत्पन्नविभुविशेषगुणनाश्यत्वनियमात् शब्दे नित्यत्वप्रवादेन बुद्ध्यादिषट्करूपविभुविशेषगुणेष्वेव स्वनाशं प्रति स्वोत्तरोत्पन्नवैजात्यावच्छिन्नत्वेन कारणता । यद्वा स्वपूर्ववर्त्तिवैजात्यावच्छिन्ननाशं प्रति वैजात्यावच्छिन्नत्वेन कारणतेति जन्यतावच्छेदकतया जनकतावच्छेदकतया वा बुद्ध्यादिषट्कगतवैजात्यविशेषस्य सिद्धिरूहनीयेति भावः । कारणघटिततया जन्यता कार्यघटितत्वेन जनकता वा आत्माश्रयाऽन्योन्याश्रयादिदोषकवलिता इति न प्रेक्षावतां सिद्धान्तमतसिद्धमिति "यदि चेति" उक्तम् ।

बाधसत्प्रतिपक्षसम्बलनस्थले परामर्शसत्वेऽप्यनुमितेरनुत्पादात् स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धावच्छिन्नानुमितिनिष्ठप्रकारतानिरुपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानविशिष्टस्य परामर्शाद्यात्मकसविषयकस्य बुद्ध्यादिगतवैजात्यावच्छिन्नस्य वा तदानीमसत्वात्

वच्छेदककोटौ निवेश्या। न च बाधसत्प्रतिपक्षाद्यभावानां कारणत्वं स्यादिति वाच्यम्, अन्यथासिद्धभिन्नत्वविशिष्टनियतपूर्ववर्तित्त्वरूपस्य कारणतात्वस्य तेषां क्लृप्तत्वात्, अतिरिक्तस्य तस्याभावात्। न च निरुक्तोभयसम्बन्धेन पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिविशिष्टत्वेनैव कारणत्वमस्तु कारणतावच्छेदकोपलक्षितसत्ताया एवापेक्षितत्वात् नात्माश्रय इति वाच्यम् अन्योन्याश्रयापत्तेः। तथा हि परामर्शादिशून्यक्षणाव्य-

---

तावतैव अनुमितिरिति बाधसत्प्रतिपक्षाद्यभावानां पृथक्कारणत्वकल्पनमनर्थकमित्याशङ्कने—"न चेति" उत्तरयति—"वाच्यमिति।" "अन्यथासिद्धभिन्नत्वविशिष्टेति"। न च वाधसत्प्रतिपक्षाद्यभावानां नियतपूर्ववर्त्तित्वेपि गगनवत् कुतो नान्यथासिद्धत्वम्? बाधसत्प्रतिपक्षाद्यभावसत्वेऽपि परामर्शमन्तरेणानुमितेरनुत्पादात्, परामर्शस्यावश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तित्वेन तद्वद्भिन्नत्वरूपान्यथासिद्धत्वाभावेन विनिगमनाविरहस्य दानुमशक्यत्वादिति वाच्यम्। सुखदुःखादीनां शरीरावच्छिन्ने चात्मनि अनवरतं सत्वात्। दर्शितोभयसम्बन्धेन भगवज्ज्ञानविशिष्टयोस्तयोरेव कारणत्वमस्तु परामर्शस्यापि कुतो नावश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्त्तिभिन्नत्वमिति यद्यद्पदार्थे कारणताया सार्वजनीननिर्णयो वरीवर्त्ति तत्र निवेशादिप्रणाल्यादिप्राप्ततयैव अन्यथासिद्धत्वादिनिर्वचनस्यानुभवविरुद्धत्वात्। अमुमेवाभिप्रायं मनसिकृत्य उत्तरयति—'अन्यथासिद्धेत्यादि"। पुनर्निवेशान्तरमनुसृत्य प्रकृतविचारमेव सपल्लवीकरोति—"न च निरुक्तोभयसम्बन्धेनेति"। स्वोत्पत्तौ स्वापेक्षायाम् आत्माश्रयं निराकुरुते—"कारणतावच्छेदकोऽपि लक्षितमत्ताया इति।" कार्यजनने कारणतावच्छेदकोपलक्षितव्यक्तिसत्तामात्रापेक्षा न तु तदवच्छिन्नत्वेन कारणसत्ता इति न आत्माश्रय इति भावः। "अन्योन्याश्रय इति।" एतत्संघटनं ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृतम्।

स्वकल्पितकार्यकारणभावे निरुक्तमन्योन्याश्रयमपाकरोति—"च चास्मन्मतेऽपि" इति, "परामर्शशून्य" इति। तथा च यद् यद् सद्वस्तु भवति

वहितोत्तरक्षणेऽनुमितिः कुतो न जायत इति प्रश्ने यतो निरुक्तसम्बन्धेनानुमितिविशिष्टज्ञानाभावः पूर्वक्षणे वर्त्तते ततो नोऽत्तरक्षणेऽनुमितिरित्युत्तरम् । निरुक्तसम्बन्धेनानुमितिविशिष्टज्ञानाभाव एव पूर्वक्षणे कुत इति प्रश्ने यतो नोत्तरक्षणेऽनुमितिरित्युत्तरस्य वक्तव्यतया स्फुटमन्योन्याश्रयः । न चास्मन्मते कथितान्योन्याश्रयशंका परामर्शादिशून्यकालादेर्निरुक्तसम्बन्धेनानुमितिविशिष्टत्वेनेश्वरवीक्षितत्वाभावस्य स्वतःसिद्धतया निरुक्तविशिष्टत्वेनेश्वरीक्षितत्वाभावस्य स्वतः सिद्धत्वात् स हि भगवान् सत्यदर्शी कार्यस्योपधायकमेव तदुपधायकत्वेनेक्षते नान्यदित्युपगमात् । न च घटादिकारणताप्यनयैव

तन्मात्रविषयकमेव ईश्वरज्ञानमस्ति । इत्थञ्च परामर्शशून्यकालीनज्ञानादौ उत्तरक्षणेऽनुमित्यनुत्पादादेव निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नानुमितिनिष्ठ प्रकारतानिरुपितविशेष्यताऽपि नास्त्येवेति यतस्तत्पूर्वक्षणे निरुक्तोभयसम्बन्धेनेश्वरज्ञानविशिष्टज्ञानन्नास्तीत्यतः तदुत्तरक्षणेऽनुमितिर्न भवति तत्पूर्वक्षणे तादृशसम्बन्धेनेश्वरज्ञानविशिष्टज्ञानं कुतो नास्ति यतः ईश्वरज्ञानं सविषयकं भवति अतस्तत्पूर्वक्षणे न ईश्वरज्ञानविशिष्टज्ञानमस्तीत्युत्तरस्य दानेन अन्योन्याश्रयदान सम्भावनेति भावः ।

निरुक्तविचारमेव दृढीकरोति "स हीति" । तथा च भगवतो भ्रमज्ञानानर्हत्वेन यद्यद्कार्यस्योपधायकं निमित्तं वा तत्तथात्वेनैवेक्षते—"नान्येति" । निरुक्तपरिष्कारे न कस्यापि दोषस्य सम्भावनेति भावः । प्रतिवन्दिप्रदर्शनेन आशङ्कते—"न चेति" । तथा च घटत्वादिकार्यस्थलेऽपि स्वाव्यवहितपूर्वत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धावच्छिन्ना या घटत्वावच्छिन्ना प्रकारतातन्निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानात्मकतद्व्यक्तिविशिष्टत्वेन कपालद्वयसंयोगस्य समवायेन स्वाधिकरणे विशेष्यतासम्बन्धेन

दिशा स्यादिति वाच्यम्, दण्डादीनां हि कारणताप्रत्यक्षसिद्धा-दुरपह्नवा। यदि च धूमादिपरामर्शवद्व्यभिचारः स्यात्तदा स्यादपि कारणता तथा, स तु नास्तीति न तथा कारणता, आकांक्षाज्ञानादीनामननुगतानामनया दिशा कारणत्वमिष्टमेव,

---

सम्बन्धित्वात्मकसामानाधिकरण्यमादाय तद्घटितोभयसम्बन्धेन कुलालीयोपादानप्रत्यक्षस्य वा कारणत्वमस्तु किं दण्डादीनां बहूनां तत्तद्धर्मपुरस्कारेण कारणत्वकल्पनेनेति पर्यवसिता शङ्का। तामुत्तरदानेन निराकरोति—"दण्डादीनां हि" इति। हि यतः दण्डादीनां कारणता प्रत्यक्षसिद्धा अत एवं न वाच्यमित्यर्थः। तथा च प्रत्यक्षसिद्धपदार्थे अक्लृप्तकल्पितपदार्थेन समं विनिगमनाविरहो न दोषाय भवतीति भावः।

प्रकृतनिवेशे परामर्शीयकार्यकारणभावेऽव्यवहितोत्तरत्वनिवेशस्यापि न प्रयोजनमिति स्पष्टीकरोति—"यदि चेति"।

पूर्वपक्षकवह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति यदि पर्वतधर्मिकवह्निव्याप्यधूमवत्तापरामर्शत्वेन कारणता कथ्यते तदा आलोकलिङ्गकपरामर्शात्पर्वते जायमानवह्न्यनुमितेः प्राक् धूमपरामर्शस्यासत्वेन व्यतिरेक व्यभिचार इति तद्वारणाय पर्वतधार्मिकधूमवत्तापरामर्शोत्तरजायमानवह्न्यनुमितिं प्रति पर्वतधर्मिकधूमवत्तापरामर्शत्वेन कारणतां स्वीकरोति। प्रकृतनिवेशे तु स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेनावच्छिन्ना या पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितित्वावच्छिन्ना प्रकारता तन्निरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानव्यक्तिमत्त्वमविशेषेण धूमलिङ्गकपरामर्शे आलोकलिङ्गकपरामर्शे चाप्यस्तीति न व्यभिचारसम्भावना, न वा तद्वारणार्थं अव्यवहितोत्तरत्वादेर्निवेश इत्येव "यदि चे"त्यारभ्य न तथा कारणते" त्यादि ग्रन्थस्याशयो बोध्यः।

शाब्दबोधस्थलेऽपि आकांक्षाज्ञानादीनामप्यनुगतैकरूपेणैव हेतुत्वमित्याह—"आकांक्षाज्ञानादीनामिति"। तथा चाभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वा-

प्रत्यक्षसिद्धामपि कारणतामपलपतां लाघवमात्रमनुसरतां यदि कारणमितरद्विलुप्यते तदा विलुप्यतां सकलकारणसारं भगवन्तमेवापारकारुण्यपारावारमादाय संसारदावदहनतापमपनेष्याम इति दिक्। वस्तुतस्तु साध्यपक्षभेदेनापि नानुमितिकारणत्वं तत्तदनुमितेरपि क्वचिद्साध्यतया तत्तदनुमितिभेदेन कार्यकारणभावभेदापत्तेरपितु साध्यपक्षादिकमनिवेश्य सामान्यतो विषय-

---

वच्छिन्नप्रकारतानिरूपितघटत्वावच्छिन्नविशेषताकशाब्दबोध प्रति स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानव्यक्तिविशिष्टत्वेनानुगतरूपेणाकांक्षाज्ञानादीनां हेतुत्वेन न कोऽपि दोषः सम्भवतीति भावः।

लाघवमात्रमनुसृत्य प्रत्यक्षसिद्धमपीतरत्कारणं नाङ्गीकार्यमिति मतं, यदि साधु भवति तदा सर्वत्र सर्वकारणं विहाय सकलकारणसारीभूतं भगवन्तमेव समादाय सर्वत्र निर्वाहः कार्य इत्याह--"प्रत्यक्षमित्यादि" "दिगित्यन्तेन" ग्रन्थेन। ननु निरुक्तोभयसम्बन्धेन तादृशानुमितिविशिष्टः परामर्शो यथा भवति तथा तत्परामर्शाश्रयीभूतचैत्रादिशरीरवृत्तिपरामर्शकालीनतत्तद्वायुसंयोग एवमुड्डीयमानपरमाण्वादिसंयोगाः केषाञ्चित् पदार्थानां विभागा अपि इति विनिगमनाविरहेण निरुक्तरूपेण भगवज्ज्ञानविशिष्टत्वेन तेषामपि कारणत्वं स्यादिति न किमपि लाघवम्, प्रत्युत गौरवमेवेति आशयेनाह--"यदीति" स्वबुद्धिवैभवं प्रदर्शयन् विचारान्तरमारभते "वस्तुतस्त्वति" साध्यपक्षभेदेनापीति, सामान्यत इति। एतन्मतेऽपि पुरुषभेदेन कार्यकारणभावभेदस्तु आवश्यक एव। किन्तु विषयभेदेन तद्भेदो नास्तीति भावः।

कार्यकारणभावस्वरूपमाह---"विषयतावृत्तीत्यादि" यद्यप्यनुमितिनिरूपकत्वं विषयतायां नास्ति तथापि स्वीयविषयितावृत्तिर्या विषयता-

तावृत्तिनिरूपकतासम्बन्धेन तत्पुरुषीयानुमितिं प्रति तत्पुरुषीयज्ञानस्य हेतुता। हेतुतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वनिष्ठेश्वरज्ञानीयविशेष्यतानिरूपिता या स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसंसर्गावच्छिन्नानुमितित्वावच्छिन्ना प्रकारता तन्निरूपितविषयत्वीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता, भवति हि चैत्रीयमिदं ज्ञानं स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिमदितीश्वरज्ञाने पर्वतोद्देश्यकवह्न्यनुमितौ तदनुमितिविषयता-

---

निरूपकता तादृशनिरूपकतापि स्वसंसर्गो भवितुमर्हतीति तेन सम्बन्धेनानुमितिः स्वविषयितायामेवोत्पद्यते तत्र तत्पुरुषीयज्ञानमात्रं कारणमित्यर्थः।

वस्तुतस्तु विषयितावृत्तिस्वविषयतानिरूपकत्वसम्बन्धेनेति पाठः समुचितः प्रतिभाति तदन्यथालेखस्यान्धपरम्परयाऽपि सम्भवात्। हेतुतावच्छेदकसम्बन्धश्चेति। "स्वनिष्ठेति"। स्वं तत्तदनुमितिजनकपरामर्शः तत्र स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बधेन अनुमितिस्सम्भवतीति भगवज्ज्ञानस्य सन्मात्रविषयकत्वात् देवदत्तीयपरामर्शः निरुक्तोभयसम्बन्धेन पर्वतविशेष्यकवह्निविधेयताकानुमितिमान् भवत्येवेति तदाकारक भगवज्ज्ञानमपि भवत्येवेति भावः। दर्शिताकारकज्ञाने परामर्शो विशेष्यः तदुत्तरोत्पन्नानुमितिः प्रकारः इत्याकारानुमितिमान् इत्यस्य पर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितवह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपकानुमितिमानित्यर्थः। तथा च दर्शितोभयसम्बन्धेन परामर्शे साक्षादनुमितिः प्रकारः। अनुमित्यंशे च तदीयवह्न्यादिनिष्ठविषयतानिरूपिताः प्रकारित्वविशेष्यित्वाद्यात्मिकाः सर्वा एव विषयिताः स्वरूपेणैव प्रकाराः भवन्तीति विषयत्वीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन तादृशपरामर्शस्यानुमितिनिष्ठायां सर्वस्यामेव विषयितायां सत्वान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति भावः।

प्रस्तुतं प्राप्तपदार्थं विवेचयति "अनुमितिविषयता त्विति"। एतद्विचा-

सर्वापि न प्रकार इति सकलतदनुमितिविषयतायां निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रीयज्ञानसत्त्वात् न व्यभिचारः। अनुमितिविषयता तु शृङ्खलितविषयतात्वेन केवलविषयतात्वेन वा प्रकार इत्यन्यदेतत्। स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वनिवेशे च स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वसम्बन्धेन मैत्रीयानुमितिमत्तया भगवदीक्षितस्य परामर्शशून्यकाले विद्यमानस्य चैत्रीयज्ञानस्य सामानाधिकरण्यघटितनिरुक्तसंसर्गेणानुमितिविषयतायां सत्त्वात्तदानीमपि चैत्रीयानुमित्यापत्तिरतः सामानाधिकरण्यप्रवेशः। अथ पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्यनन्तरमपरानुमित्यापत्तिः, प्रथमानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्य प्रथमानुमितिक्षणेऽपि सत्त्वात्। न च

रस्य प्रकृतानुपयुक्तत्वादुपेक्ष्यते "इत्यन्यदेतत्" इत्यन्तेन। शृङ्खलितभाने निरूप्यनिरूपकभावापन्नविषयतात्वेन भानं विशृंखलितभाने तत्तद्विषयतात्वेन तद्व्यक्तित्वेन वा भानम्। प्रकृतकार्यकारणभावनिर्वाहस्तु उभयथैव सम्भवति इति नैतद्विचारो विशदीकृत इति बोध्यम्।

हेतुतावच्छेदकसम्बन्धघटकसम्बन्धद्वयनिवेशस्य फलं प्रदर्शयति "स्वाव्यवहिते" त्यारभ्य "अतः सामानाधिकरण्यस्य प्रवेश" इत्यन्तेन सम्बन्धद्वयनिवेशप्रयोजनं ग्रन्थकारैः स्वयमेव स्पष्टीकृतमिति तद्व्याख्यानस्य नावश्यकता। पुनः प्रकृतविचारमेव सपल्लवीककरोति "अथेति"। सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभावरूपपक्षताया कारणत्वमङ्गीकृत्य अनुमित्युत्तरमनुमित्यापत्तिरूपं दोषं निराकरोति—"न चेति"। अनुमितिजनने सहकारि

टिप्पणी—१. स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वनिवेशे तु विशिष्टपरामर्शोत्पत्तिक्षणेऽप्यनुमित्यापत्तेः, परामर्शाव्यवहितपूर्वक्षणाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्यापि, स्वाव्यवहितपूर्वक्षणवृत्तित्वघटितनिरुक्तसम्बन्धेनानुमितिविषयतायां सत्त्वात्। स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्य सम्बन्धघटकतयां प्रवेशः। सामानाधिकरण्याप्रवेशे च इत्यधिकः पाठः सरस्वतीभवनस्थे पुस्तके।

पर्वतो वह्निमानित्याकारकसिद्ध्यभावोऽपि चैत्रीयज्ञानस्यानुमितिजनने सहकारी, तं विनापि द्रव्यं वह्निमदित्यनुमितेर्जननात् तज्जननप्रयोजकसामग्र्याः प्रकृतेऽपि सत्त्वादिति चेन्मैवम्, तादात्म्येन तत्तद्विषयताव्यक्तीनामपि तत्तद्विषयतावृत्तिनिरूपकतासम्बन्धेनानुमितौ ज्ञानसामान्ये वा कारणत्वाभ्युपगमात् द्रव्यं वह्निमदित्यनुमितिप्रयोजिका हि सामग्री चैत्रावच्छेदेन द्रव्यं वह्निमदित्याकारकसिद्ध्यभावाधिकरणं यः क्षणः तदवच्छेदेन निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रीयज्ञाने तत्तद्विषयतासम्बन्धित्वरूपा, सा च वह्निमदित्यनुमितिविषयतायां नास्त्येव, द्रव्यं वह्निमदित्याकारानुमिति-

---

इति न चेति योजना। तत्र हेतुमाह—"तमिति" प्रकृतविचारे सामान्यतस्तत्पुरुषीयानुमितिं प्रति तत्पुरुषीयज्ञानस्य हेतुता अङ्गीकृता। इत्थञ्च यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शस्तदनन्तरं वह्निमान् पर्वत इत्यनुमितिस्तत्क्षण एव स्वकारणसम्पत्तिवशात् वह्निव्याप्यधूमवद् द्रव्यं इत्याकारकपरामर्शात्मकानुमितिश्च तदग्रिमक्षणे द्रव्य वह्निमदित्यनुमितिः सकलमतसिद्धा जायते। तत्र सिषाधयिषा विरहविशिष्टपर्वतो वह्निमानित्याकारकसिद्धभावरूपसहकारिणं विनापि द्रव्यं वह्निमदित्याकारकतत्पुरुषीयानुमितेर्जननात् निरुक्तकार्यकारणभावेन तस्य सहकारितासम्भव इति भावः।

उत्तरयति—"तादात्म्येनेति"। तथा च तत्तद्विषयितावृत्तिस्वविषयतानिरूपकत्वात्मकनिरुपकतासम्बन्धेन देवदत्तीयतत्तदनुमितिसामान्यं प्रति तदीयतत्तज्ज्ञानसामान्यं प्रति वा तादात्म्येन तत्तद्विषयिताया हेतुत्वमित्यर्थः। तथा च प्रथमानुमितिर्वा प्रसिद्धान्तिमा स्वविषयितायामुक्तसम्बन्धेन जायत एव। या चानुमितिरप्रसिद्धा तस्या विषयिताया अप्यसत्वात् तादात्म्येन तद्विषयितात्मककारणस्य विरहादेव नानुमित्यन्तरोत्पत्तिः। इत्थञ्च प्रदर्शिततर्काकारकापत्तेरपि न सम्भावना वह्निव्याप्यधूमपरामर्शकाले

लौकिकसन्निकर्षवशात् दोषविशेषवशाद्वा बाधसंपत्तिः, तदग्रिमक्षणेऽनुमित्यापत्तिवारणाय स्वेतरकारणकूटसमवधानकालीनपरामर्शस्यैव हेतुत्वं वाच्यम्। एवञ्च यो यत्क्षणः स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन स्वेतरकारणकूटसमवधानकालीनयत्किञ्चित्साध्यहेतुकदेवदत्तीयपरामर्शवान् स्यात् स देवदत्तसमवेतानुमितिमानपि स्यात् इत्थमेव तर्कोत्यानमपि भवितुमर्हति। प्रकृतेऽनुमित्युत्तरक्षणे तादात्म्येन तादृशविषयित्वात्मककारणसमवधानविरहादेव तादृशतर्काकारकापत्तेरपि न सम्भावनेत्याशयः।

न च तत्तद्विषयितायाः तादात्म्येन कारणत्वं ग्रन्थकृदुक्तं कथं सङ्गच्छते। अनुमित्यात्मककार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन तदीयविषयिताया असत्त्वात् कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वरूपस्य तस्यासिद्धत्वादिति वाच्यम्, प्रकृते कार्यक्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वरूपस्यैव कारणत्वस्य विवक्षणात् अनुमितिक्षणे अनुमितिविषयित्त्वस्यापि विद्यमानत्वान्न काऽप्यनुपपत्तिरिति भावः। न चानुमित्युत्पत्तावनुमितिविषयितायास्तादात्म्येन कारणत्वाभ्युपगमे आत्माश्रय इति वाच्यम्, प्राचां मते सम्बन्धघटकस्वत्वस्यानुगतत्वात् वृत्तिविषयितासम्बन्धेनानुमितिं प्रति तादात्म्येन विषयितया हेतुत्वकल्पनात्, प्रकृतेऽनुमित्युत्तरमनुमितेरप्रसिद्धत्वात् तदीयविषयिताऽप्यप्रसिद्धैव, प्रसिद्धानुमितिविषयितायाञ्च तादात्म्येन विषयित्वस्यापि सत्त्वात् न काऽप्यनुपपत्तिरिति दिक्। एवं देवदत्तस्य पर्वतो वह्निमान् इत्यनुमितिक्षणे स्वकारणवशाद् वह्निव्याप्यधूमवद्द्रव्यमिति परामर्शात्मिका समूहालम्बनात्मिका चानुमितिर्जाता, तदग्रिमक्षणे द्रव्यं वह्निमदित्यनुमितिरपि जायते। कार्यतावच्छेदकञ्च देवदत्तीयानुमितित्वमात्रं तत्र देवदत्तसमवेतसिद्ध्यभावविशिष्टपरामर्शत्वेन कारणत्वं यद्युच्येत तदा परामर्शमात्रस्य सिद्ध्यात्मकत्वेन सम्भवस्वात्मकसिद्धिविशिष्टस्यैव परामर्शस्य सत्वेनासम्भवः। तत्तत्सिद्ध्यभावविशिष्टतत्तत्परामर्शत्वेन कारणत्वोक्तौ साध्यपक्षभेदेनाऽपि कारणत्वमिति प्रतिज्ञाहानिः। इत्थं च द्रव्यं वह्निमत् इत्यनुमितिप्रयोजिका हि सामग्री चैत्रा-

वच्छेदेन द्रव्यं वह्निमदित्याकारकसिद्ध्यभावाधिकरणक्षण इत्यादिग्रन्थकृतां लिखनमुन्मत्तप्रलपितमिव प्रतिभाति इति चिन्त्यम्। कार्यकारणभावो हि सर्वत्र त्रिविधः। एकस्तु सामान्यः, द्वितीयो माध्यमिकः, तृतीयः प्रातिस्विकः, यथाकपालरूपे रूपोत्पत्तिवारणाय जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यं कारणम्, प्रवृत्त्यादिसम्पादनाय माध्यमिकः, यथा घटनिर्मातुः कुलालस्य दण्डाद्यानयने प्रवृत्तिः। तृतीयस्तु घटद्वयावेव परस्परं विनिमयेन कुतो नोत्पन्नौ— इति देशव्यत्यासवारणाय तद्घटव्यक्तिं प्रति तादात्म्येन तत्कपालः कारणम्। (तृतीयस्तु देवदत्तीयतत्तदनुमितिम्प्रति स्ववृत्तितत्तद्विषयितात्वेन कारणत्वम्। अयमपि नियमोऽस्ति—व्याप्यधर्मावच्छिन्नसामग्रीसहकृताया एव वयापकधर्मावच्छिन्नसामग्र्याः फलोपधायकत्वम्। अत्र पर्वतो वह्निमानित्यनुमित्युत्तरं पुनः पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिः कुतो नेति शङ्काकर्त्तुरापत्तिरीप्सिता, तद्वारणं न माध्यमिककार्यम्, कार्यकारणभावादेव, तथा हि पर्वतपक्षकवह्निविधेयकानुमितिं प्रतिपर्वतपक्षकवह्निप्रकारकसिद्ध्यभावविशिष्टपरामर्शात्मककारणस्य तदानीमभावादेव न सामान्यकारणमात्रादापत्तिर्भवितुमर्हति। एवं देवदत्तीयतत्तदनुमितिं प्रति तादात्म्येन स्ववृत्तितत्तद्विषयितात्वेन कारणता। इत्थञ्च या च प्रथमानुमितिः प्रसिद्धास्ति, तदीयविषयितायां स्वात्मकानुमितिरप्यस्त्येव। अनुमित्युत्तरमनुमितिस्त्वप्रसिद्धैव। तदीयविषयिताप्यप्रसिद्धैवेति विषयित्वान्तरं सम्भाव्यापि नापत्तिदानसम्भव इति अत्रैव ग्रन्थकृतां तात्पर्यमिति विशेषकार्यकारणभावद्वयादेव कथमप्यापत्तिदानस्य सम्भावना नास्तीत्यास्तां विस्तर इति निपुणतरं विभावनीयम्।) तथात्राऽपि देवदत्तसमवेतानुमितिम्प्रति ग्रन्थनिर्दिष्टसम्बधेन देवदत्तज्ञानस्य हेतुता। माध्यमिकस्तु द्रव्यं वह्निमदित्याकारकानुमितिम्प्रति द्रव्यं वह्निमदित्यादिसिद्ध्यभावविशिष्टो यः क्षणः तदवच्छेदेन ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धेन चैत्रज्ञानत्वेन कारणता। स्वविषयतानिरूपकत्वसम्बन्धेन पूर्वकल्पे माध्यमिककार्यकारणभावं तत्तद्व्यक्तित्वेन कार्यकारणभावम्वा अङ्गीकृत्यैव प्रकृतनिर्वाहः कृतः। इदानीं कार्यसहभावेन

विषयतातादात्म्यविरहात्। पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिप्रयोजिका तु सामग्री पर्वतो वह्निमानित्याकारकसिद्ध्यभावघटितेति साऽपि प्रकृते नास्तीति कथमनुमित्यापत्तिः। वस्तुतस्तु कार्यसहभावेन निरुक्तज्ञानकारणता स्वीकर्त्तव्या, प्रथमानुमितिपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्य प्रथमानुमितिद्वितीयक्षणेऽसत्त्वादेव प्रकृतेनानुमित्यापत्तिः। अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्य द्वित्त्वजनकत्वविरहात् तत्पुरुषीयद्वित्त्वजनकसामग्र्यास्तत्पुरुषीयज्ञानसामान्ये प्रतिबन्धकत्वात्, स्वीक्रियतां च द्वित्त्वजनकापेक्षाबुद्धेरपि द्विक्षणमात्रस्थायित्त्वमेव, द्वित्वसाक्षात्कारश्च विषयस्य कार्यसहभावेन कारणत्वानभ्युपगमादेवोपपाद्य इति नानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नज्ञानस्य त्रिक्षणस्थायित्त्वसम्भावना। परमार्थतस्तु

कारणतां स्वीकृत्य सामान्यकार्यकारणभावादेव प्रकृतनिर्वाहः कर्त्तुं शक्य "इत्यभिप्रानेनाह" वस्तुतस्त्वित नतु कार्यसहभावेन देवदत्तसमवेतानुमितिं प्रति देवदत्तज्ञानत्वेन कारणतास्वीकारे प्रथमक्षणे लौकिकसन्निकर्षादिवशात् सिद्ध्यात्मकः परामर्शो वह्न्यनुमितिरिष्टसाधनमेतेन सहसमूहालम्बनात्मको जातस्तदग्रिमक्षणे वह्न्यनुमितिर्जायतामितीच्छा, तदग्रिमक्षणेऽनुमितिः परामर्शनाशश्च जायते इति सर्वसम्मतः।

कार्यसहभावेन हेतुत्वाङ्गीकारे तत्रानुमितिर्न स्यादित्यस्वरसेन पुनः प्रकारान्तरेण कार्यकारणभावमुपन्यस्यति "परमार्थतस्त्विति"। कार्य्यकारणभावप्रणाली तु "भगवज्ज्ञानमि" त्यारभ्य "प्रकारतासम्बन्धेनेत्यन्तेन" ग्रन्थकृतैव स्पष्टीकृता न तत्र व्याख्यानापेक्षा। पूर्वकल्पे चैत्रानुमितिं प्रति चैत्रज्ञानं कारणमित्युक्तम्। तच्च ज्ञानं यथानुमितिपूर्वक्षणे वर्त्तते तथैव अनुमित्युत्पत्तिक्षणेऽपि, स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन' अनुमितिविशिष्टस्य तस्य द्रव्यगुणद्वये गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वस्यैव क्षणद्वय एवाविशेषात्। चरमकल्पे तु स्वविषय-

भगवज्ज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन कारणं कार्यतावच्छेदकञ्च चैत्रीयानुमितित्वम्, कार्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च विषयतावृत्तिनिरूपकता, कारणतावच्छेदकसम्बन्धस्तु स्वविषयचैत्रीयज्ञानवत्त्वम्, ज्ञानवत्ता च स्वनिष्ठेश्वरज्ञानीयविशेष्यतानिरूपितस्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसंसर्गावच्छिन्नानुमितित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविषयत्वीयस्वरूपसंबन्धावच्छिन्नप्रकारता। न चेश्वरज्ञानस्य सदातनत्वात् सर्वदा चैत्रीयानुमित्यापत्तिरिति वाच्यम्, तस्य सदातनत्वेऽपि संसर्गस्य निरुक्तसम्बन्धेन चैत्रीयज्ञानवत्त्वस्य कादाचित्कत्वात्। न च पूर्वकल्पापेक्षयात्र कल्पे द्विधा भगवज्ज्ञाननिवेशात् गौरवमिति वाच्यम्, तादृशगौरवसम्भवेऽपि घटाद्यनुमित्यादौ सर्वत्रैककारणताकल्पना-

---

चैत्रीयज्ञानवत्तासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानस्य कारणत्वमभिहितम्। तत्राधिकरणतानियामकसम्बन्धस्तु स्वनिष्ठेश्वरज्ञानीयविशेष्यतानिरूपिता या स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धावच्छिन्नानुमितित्वावच्छिन्ना प्रकारता तन्निरुपितविषयित्वीयस्वरुपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतात्मकः। इथञ्च विशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिभानस्य महिम्ना मर्यादया वा अनुमित्युत्पत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेनैव स्वविषयचैत्रीयज्ञानवत्ता न तु तदग्रिमक्षणे वर्त्तते यथा विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्ननिरुपिकताकाधिकरणता द्रव्य एव न तु गुणे, तथा चैतत्कल्पे नानुमित्युत्तरमनुमित्यापत्तेः सम्भावनेति पूर्वकल्पापेक्षया गौरवमपि श्लाधनीयमेवेति ग्रन्थकृतामाशयः। पूर्वकल्पापेक्षया एतत्कल्पे गौरवमित्याशङ्क्य समाधत्ते "न चे"त्यारभ्य "सर्वत्रैककारणकल्पनालाघवसम्भवा" दित्यन्तेन ग्रन्थेन।

अयं भावः—पूर्वकल्पे पक्षसाध्यभेदमनिवेश्य केवलं तत्पुरुषीयानुमितिं प्रति तत्पुरुषीयज्ञानं कारणम्, अत्र विनिगमनाविरहेण तत्पुरुषीयसविषयस्य

लाघवसम्भवात् । एतेन शाब्दबोधोपमित्यादिकारणता व्याख्याता ।

तत्पुरुषीयसमवेतस्य वा कारणत्वं ग्रन्थनिर्दिष्टसम्बन्धेन वक्तुमर्हम् । एतत्कल्पे तु एकं भगवज्ज्ञानमेवकारणम् । किञ्चैतत्कल्पे चैत्रमैत्रादिभेदेन कार्यभेदो भवतु, कारणन्तु सर्वत्र भगवज्ज्ञानमेकमेव इत्यतोऽपि महल्लाघवं बोध्यम् । इतोऽन्यथाऽपि लाघवं प्रदर्शयति "एतेनेति" । "शाब्दबोधोपमित्यादिकारणतेति" । तथा च चैत्रीयशाब्दबोधं प्रति भगवज्ज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन कारणम् । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धस्तु तद्विषयितावृत्तिनिरुपकता, कारणतावच्छेदकसम्बन्धोऽपि स्वविषयचैत्रज्ञानवत्त्वमेव । ज्ञानवत्ता च स्वनिष्ठविशेष्यतानिरुपिता या स्वाव्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिकत्वस्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धावच्छिन्नशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नप्रकारता तन्निरुपितविषयित्वीयस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता, अत्र स्वविषयकज्ञानं तु चैत्रीयपदार्थोपस्थित्यात्मकं प्रागुक्तनिरुक्तोभयसम्बन्धेन चैत्रीयशाब्दबोधतश्चापि भवत्येवेति भगवज्ज्ञानस्य सविषयकत्वेन तनिष्ठविशेष्यतानिरुपिता या तादृशोभयसम्बन्धावच्छिन्ना प्रकारता सा नीलाभिन्नो घट इत्याकारकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नप्रकारता तन्निरुपितविषयित्वीयस्वरुपसम्बन्धावच्छिन्ना या अभेदसम्बन्धावच्छिन्ननीलत्वावच्छिन्नप्रकारतानिष्ठप्रकारता तेन सम्बन्धेन भगवज्ज्ञानस्य नीलाभिन्नो घट इत्याकारकचैत्रीयशाब्दबोधविषयितायां सर्वस्यामेव सत्वान्न व्यभिचारः । एवमुपमितावपि भगवज्ज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन कारणम् । तत्र स्वविषयज्ञानपदेन गोसदृशो गवयो बोध्य इत्यतिदिष्टवाक्यार्थस्मरणमेव धर्त्तव्यम् । तद्वत्ता च प्रदर्शितसम्बन्धेन सर्वस्यामेवोपमितिविषयितायां सत्त्वात् कार्यकारणभावसङ्गतिः । एवमिच्छां प्रत्यपि भगवज्ज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन कारणम् । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च विषयितानिष्ठनिरुपकतैव, तेन सम्बन्धेनेच्छाऽपि स्वकीयविषयतानिरूपितस्वनिष्ठविषयितायामेव उत्पद्यते । तत्र कारणसत्ता च स्वविषयज्ञानवत्तासम्बन्धेन । तच्च ज्ञानमिदं मदिष्टसाधन-

व्याख्याताश्चेच्छाप्रवृत्त्यादिकारणताः । न च परामर्शादिशून्यकालीनज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमित्यापत्तिः, तस्यापि निरुक्तसम्बन्धद्वयेनानुमितिसत्त्वेनेश्वरवोक्षिततत्वसम्भवादिति वाच्यम्, परामर्शा-

---

मित्याकारकचैत्रसमवेतेच्छापूर्ववर्ति ग्राह्यम् । तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिता या ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नमैत्रीयेच्छात्वावच्छिन्नप्रकारता तन्निरुपितविषयित्वीयस्वरुपसम्बन्धावच्न्निप्रकारतासम्बधेन सर्वस्यामेवेच्छीयविषयितायामस्तीति न किमप्यनुपपन्नम् । एवं मैत्रीयप्रवृत्तिं प्रत्यपि भगवज्ज्ञानमेव कारणम्, कार्यतावच्छेदकसम्बन्धोऽपि प्रवृत्तोरपि सविषयकत्वात् स्वीयविषयतानिरूपितस्वनिष्ठविषयित्वनिष्ठनिरूपकतैव । कारणतावच्छेदकसम्बन्धोऽपि स्वविषयज्ञानवत्वमेव । तत्र ज्ञानं प्रवृत्तिपूर्ववर्त्तीष्टसाधनताविषयकम्, कृतिसाध्यताविषयकं वा, तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिता या ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नचैत्रीयप्रवृत्तित्वावच्छिन्नप्रकारता तन्निरूपितविषयित्वीयस्वरुपसम्बन्धाबच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानस्य सर्वस्यामेव प्रवृत्तिनिष्ठविषयितायाः सत्त्वात् उक्तकार्यकारणभावसङ्गतिः कार्या इति सर्वमवदातमित्याशयः ।

प्रकृतकार्यकारणभावे पुनः शङ्कते—"न चेति" । यद्यपि परामर्शासत्त्वकाले चैत्रादौ अनुमितिर्न जायत एव इति तादृशोभयसन्बन्धावच्छिन्नानुमितित्वावच्छिन्नप्रकारताऽप्रसिद्धा । तन्निरूपितविषयित्वीयस्वरुपसम्वन्धावच्छिन्नप्रकारताऽपि सुतरामप्रसिद्धेति कथमप्यनुमित्यापत्तिर्न सम्भवति । तथाऽपि ग्रन्थकृतामयमाशयोऽस्ति । यदि परामर्शादिकं विहाय भगवज्ज्ञानमेकमेव कारणं कल्प्यते तदा यथा परामर्शकाले ज्ञानमस्ति तथैव तच्छून्यकालेऽपि इति तत्कारणबलात् कथं नानुमितिः ? चैत्रीयपरामर्शशून्यक्षणोत्तरक्षणं चैत्रीयानुमितिजनकभगवज्ज्ञानवत्क्षणोत्तरं स्यात् तदा चैत्रीयानुमितिर्मामपि स्यात् चैत्रीयपरामर्शाधिकरणक्षणोत्तरक्षणवदिति तर्काकारकापत्तौ एव ग्रन्थकृतां तात्पर्यम् । समाधत्ते—"परामर्शादिसमवधानकालीनेति" । एतेनानु-

दिसमवधानकालीनमेव ज्ञानमीश्वरेणानुमित्युपधायकत्वेनेक्ष्यते नान्यदित्यस्य स्वभावाभ्युपगमात्। न च संख्यैकान्तवादानुमित्यापत्तिरिष्टत्वात्, भगवद्विद्वेषेण बहूनि कारणान्यभ्युपगच्छतां नास्तिकानां नास्ति दण्डोऽन्यः। भगवत एकस्य कारणता-

---

भवविरोधो दृढ़ीकृतः। तथा च चैत्रीयपरामर्शकालीनत्वविशिष्टभगवज्ज्ञानमित्यनुभवविरोधः। वस्तुतः घटस्यैव चैत्रीयानुमितिहेतुत्वस्वीकारात् अस्य स्वभावादिति ग्रन्थस्यात्रैव तात्पर्यमिति भावः। इत्थञ्च तर्काकारकापत्तिरपि न सम्भवति। यो हि क्षणः चैत्रीयपरामर्शसमवधानकालीनत्वविशिष्टभगवज्ज्ञानाधिकरणक्षणोत्तरत्ववान् स्यात् स एव क्षणः चैत्रीयानुमितिमान् स्यादित्याकारकापत्तेरेव दातुमुचिततया चैत्रीयपरामर्शशून्यक्षणोत्तरक्षणे तादृशापत्तिदानासम्भवान्न किमप्यनुपपन्नमिति भावः। यद्वा जन्यानां जनकः कालः इति न्यायसिद्धान्तात् कार्यमात्रं प्रति तत्तत्क्षणस्य कारणत्वात् परामर्शशून्यकाले तादृशक्षणात्मककारणविरहादेव तदानीं नापत्तिसम्भावनेति दिक्।

प्रकृतविचार एव शङ्कान्तरं कुरुते न च "संख्यैकान्तवादेति"। स्वभाववादापत्तिरिति तदर्थः। समाधानमाह—"इष्टत्वादि"ति। स्वभाववादिनां तन्मतप्रविष्टत्वेन स्वभाववादो दुष्टः। प्रकृते तु श्रीमदमादिनि धनसीमामङ्गीकृत्य तदीयज्ञानस्य कारणताविचारे स्वभाववादाङ्गीकारो न काममपि क्षतिमावहतीति भावः।

वस्तुतस्तु प्रदर्शितव्याख्याने कार्यकारणभाववलक्षण्यादेवापत्तिवारणसम्भवान्न स्वभाववादाङ्गीकारापेक्षेति हृदयम्। प्रकृतकार्यकारणभावसौष्ठवं प्रदर्श्य तावता नास्तिकानामपि दण्डो जात इत्यर्थमाविष्करोति—भगवद्विद्वेषेणेत्यादिना। उक्तार्थस्तु ग्रन्थकारैरेव स्पष्टीकृतः इत्यतो नात्र व्याख्यानविशेषापेक्षा। व्यसनाभोगः, व्यसनपरिपूर्णता, आभोगः परिपूर्णतेति-

कल्पनाऽभ्यसूयावतामनन्तकारणानि प्रतिकार्यम् कल्पयतामनिर्वचनीय एव भगवद्विद्वेषव्यसनाभोगः। किमत्र वक्तव्यं सचेतसा प्रत्यक्षसिद्धानि तु कारणानि नापलपितुं शक्यानीति स्वीक्रियन्तां का क्षतिः। येषां धूमादिपरामर्शादीनामनुगतरूपेण कारणत्वं न

कोशात्। "किमत्रेति।" सचेतसां कास्तीयं सूक्ष्मविचारनिपुणबुद्धिमत्ता। "प्रत्यक्षसिद्धानीति।" प्राचीननिबन्धकारैरङ्गीकृतानि कारणानि अपलपितुं न शक्यानि, प्रयासबाहुल्येन शक्यान्यपि स्वस्मिन्नौद्धत्यप्रवादभयेन नोचितानीति भावः। "स्वीक्रियतामिति।" अनुमितौ परामर्शस्य शब्दबोधे शक्तिज्ञानादेः कारणता स्वीक्रियताम्। का क्षतिः, नैव क्षतिरित्यर्थः।

भगवज्ज्ञानस्यैकस्य कारणतानिर्वचने सम्बन्धघटकतया परामर्षादीनामपि निवेशङ्कृत्वा कार्यकारणभावः परिष्करणीयः, तावतैव नास्तिकानां शिरसि दण्डनिपातः, सर्वत्र कार्ये एकस्यैव भगवज्ज्ञानस्य कारणताकल्पनेन लाघवं विधाय श्लाघनीयोपि भवतीति सर्वं चतुरस्रम्।

"येषामिति।" अयमाशयः आलोकलिङ्गकपरामर्शाज्जायमानवह्न्यनुमितौ व्यभिचारवारणाय धूमपरामर्शोत्तरं जायमानबह्न्यनुमितिं प्रति धूमपरामर्शत्वेनेति तत्तद्धेतुभेदेन कार्योत्पादादिकं कारणतावच्छेदककुक्षौ निवेश्य वहुतरगौरवमङ्गीकृत्य यानि यानि कारणानि समीचीनीकर्त्तुं शक्यानि तानि त्यज्यन्तां विचारचतुरैः सुधीभिरिति विचारणीयः।

कार्यकारणभावस्तावत् त्रिविधः, एकस्तु सामान्यरूपेण यथा जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यत्वेन कारणता। द्वितीयस्तु घटत्वावच्छिन्नं प्रति दण्डत्वेन धूमत्त्वावच्छिन्नं प्रति वह्नित्वेन वा। तृतीयस्तु तत्तद्घटं प्रति तत्तद्धूमं प्रति वा तत्तद्दण्डत्वेन तत्तद्वह्नित्वेन तत्तद्प्रागभावत्वेन वा। तत्र घटरुपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन कपालरूपं कारणम्। निरुक्तसम्बन्धेन कपालरूपस्य कपालरूपे तद्रसादौ च सत्त्वात् तत्र

सम्भवति तानि त्यजन्ताम्, व्यभिचारवारणप्रयासगौरवात्। पक्षसाध्यभेदेन कारणताभेदपक्षे तु पूर्वोक्तमोऽश्वरज्ञानविशिष्टत्वेन न कारणत्वं कल्प्यम् गौरवादपि तु भगवज्ज्ञानव्यक्तेः तद्व्यक्तित्त्वेन कारणता, पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितित्वं कार्यतावच्छेदकधर्मः कार्यतावच्छेदकसम्बधश्च समवायः। कारणतावच्छेदकसम्बन्धस्तु स्वीयपर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितिनिष्ठप्रकारताविशिष्टाधिकरणता। प्रकारताविशिष्टत्वं च स्वनिरूपितसमवायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतानिरूपितत्व-स्वसमानाधिकरणस्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्व स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताश्रयसमवायावच्छिन्नत्वोभयसंसर्गेण। मैत्रीयानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्नायाः परामर्शशून्यकालीनचैत्रनिष्ठाधिकरणतायाश्चरमसंसर्गेण पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिनिष्ठप्रकारता-

---

रूपाद्युत्पत्तिवारणाय प्राथमिको जन्यसत्त्वावच्छिन्नं प्रति तादात्म्येन द्रव्यत्वेन कारणता। पर्वतीयो वह्निर्महानसे महानसीयश्च पर्वते विनिमयेन कुतो नोत्पन्न इति तद्वारणाय तत्तद्धूमं प्रति तत्तद्वह्नेः प्रागभावस्य वा कारणता अङ्गीकृताऽस्ति। माध्यमिककार्यकारणभावस्यैतदेव फलं यत् धूमार्थिनः पुरुषस्य वह्न्यानयने या प्रवृत्तिः सा तु धूमसामान्यं प्रति वह्नित्वेन कारणता इति माध्यमिककार्यकारणभावज्ञानादेव निर्वहतीति तत्कल्पनाप्यावश्यकी। तथैवात्रापि माध्यमिककार्यकारणभाव आवश्यक इति युक्त्या तादृशकार्यकारणभावनिर्वचनाय भूमिकामाह—"पक्षसाध्यभेदेनेति।"

"कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्चेति।" "स्वीयेति"—स्वमीश्वरज्ञानं तच्च सन्मात्रविषयकमिति चैत्रः समवायेन वह्न्यनुमितिमान् इत्याकारकमपि भवतीति तदीया या समवायसम्बन्धावच्छिन्नानुमितिनिष्ठप्रकारता तन्निरुपिता

विशिष्टत्वात्, तदानीम् चैत्रानुमित्यापत्तिरतः प्रथमसम्बन्धनिवेशः। ईश्वरज्ञानीयवह्न्यनुमितिनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यताया नित्यतया तदधिकरणतायाः सर्वदैव चैत्रे सत्त्वात्, सर्वदैवानुमित्यापत्तिरतश्चरमसम्बन्धनिवेशः। चरमसम्बन्धघटकप्रकारतावच्छेदकतया स्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्वस्यानिवेशेऽनुमितेरतिव्यवहितपूर्वसमयस्यापि[1] तादृशसमयतया परामर्शादिविरहकालेऽप्यनुमित्यापत्तेस्तन्निवेशः।

स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वस्य निवेशेऽनुमितेरुत्तरसमयस्य सर्वस्यैव तादृशतया अनुमित्यनन्तरमनुमित्यापत्ति-

---

या चैत्रनिष्ठा विशेष्यता तद्विशिष्टाधिकरणतात्मकः कारणतावच्छेदकसम्बन्धः। इयमधिकरणता निरुक्तविशेष्यतात्वावच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिता चैत्रनिष्ठा सा चानुमितिसत्त्वकालावच्छेदेनैव चैत्रे वर्त्तते इत्यभ्युपगमात् तस्यां ग्रन्थोक्तसम्बन्धद्वयसत्ता स्पष्टतरैव न तत्र व्याख्याविशेषापेक्षा। द्वितीयसम्बन्धघटकस्वसमानाधिकरणेत्यत्र स्वमनुमितिनिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्वं तत्समानाधिकरणीभूता या ग्रन्थोक्तसम्बन्धद्वयावच्छिन्ना चैत्रानुमितिनिष्ठप्रकारता तन्निरुपिता या चैत्रानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणनिष्ठा विशेष्यता तदाश्रयसमयावच्छिन्नत्वं चैत्रनिष्ठेश्वरज्ञानीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यतानिरुपिता या चैत्रनिष्ठैव निरुक्तविशेष्यत्वाधिकरणता तस्यामस्तीति प्रकृतकार्यकारणभावसङ्गतिः। निरुक्तकार्यकारणभावघटकसम्बन्धद्वयनिवेशफलं तु ग्रन्थकारैरेव सरलीकृतमिति तद्व्याख्या न विशदीकृता प्रयोजनाभावादिध्येयम्।

---

१. "अव्यवहितपूर्वसमयस्यापि" इति सरस्वतीभावनपुस्तकानुसारी पाठो न समीचीनः प्रतिभाति।

रतस्तन्निवेशः। अधिकरणता च समयभेदेन भिद्यत इति नाति-प्रसङ्गः। कार्य्यसहभावेन कारणत्वाभ्युपगमाच्च नानुमित्यनन्तर-मनुमित्यापत्तिः। प्रथमानुमित्युत्पत्तिसमयस्य निरुक्तसमयत्वेऽपि

प्रकृतपरिष्कारमुपसंहरति—"अधिकरणताचे"ति। "समयभेदेन" इति। प्रतिक्षणं भिद्यत इत्यर्थः। तथा च निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नभगवज्ज्ञानीयप्रकारतानिरुपितविशेष्यताश्रयो हि अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षण एव तदवच्छिन्नत्वं तत्क्षणवृत्त्यधिकरणतायामेव वर्तते इति नातिप्रसङ्गसम्भावनेति भावः।

यद्यप्यधिकरणता प्रतिक्षणं भिद्यत इति नियमादरे अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणवृत्त्यधिकरणतायां ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धेनेश्वरज्ञानसत्तासम्भवः। द्वितीयसम्बन्धघटकीभूतायाः स्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्व स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता सा चानुमितिनिष्ठा तन्निरूपितविशेष्यताश्रयत्वसम्बन्धेनानुमितिसत्ता तत्र सम्भवेत् तदैव तादृशविशेष्यताश्रयसमयावच्छिन्नत्वे घटितोभयसम्बन्धेन भगवज्ज्ञानसत्ताऽपि तत्र स्यात्। सैव न विभिन्नकालीनयोः सम्बन्धसामान्येनाधाराधेयभावविरह इति नियमस्य सर्वसम्मतत्वात् अनुमितिपूर्वक्षणवृत्त्यधिकरणतानुमित्योरेककालवृत्तित्वाभावात्। तथाऽप्ययं नियमस्तु विषयतातिरिक्तसम्बन्धेन वस्तुसत्ताविचार एव आदरणीयो भवति। अन्यथा भाविभूतपदार्थानुमितिस्थले तौ पदार्थौ नानुमितिविधौ विषयतासम्बन्धेनानुमितिमन्तौ वेति प्रतीत्योः प्रमात्वं स्यादिति विषयतासम्बन्धेन वस्तुसत्ताविचारे निरुक्तनियमसंकोचस्यावश्यकतया न प्रकृतग्रन्थासङ्गतिरिति निपुणतरं विभाव्य ग्रन्थकृतां निरुक्तपरिष्कार इति भावः।

"कार्यसहभावेनेति।" अनुमित्युत्पत्तिक्षणस्यापि तादृशत्वात् तदग्रिमक्षणेऽप्यनुमित्यापत्तिसम्भावनेति तद्वारणाय कार्यसहभावेन हेतुताङ्गी-

तदनन्तरसमयस्यातादृशत्वात् । क्षणलवादिभेदेनाधिकरणाताभेदाभावे तु स्वीयपर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयकानुमितिनिष्ठप्रकारतविशिष्टविशेष्यतैव कारणतावच्छेदकसम्बन्धः । प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितसमवायसंसर्गतानिरुपितत्वसमानाधिकरणस्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्व - स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानि-

---

कृता। तथा च सम्बन्धिसत्तायाः सम्बन्धसत्तानियतत्वात् अनुमित्युत्तरक्षणे सम्बन्धसत्ताविरहादेव भगवज्ज्ञानात्मकसम्बन्धिसत्ताया अभावान्नातिप्रसङ्ग इत्याशयः। प्रतिक्षणमधिकरणताया भेदो नानुभवसिद्धो यतोऽधिकरणता आधेयस्वरूपा भवति, आधेयश्चात्रभगवज्ज्ञानीयसमवायसम्बन्धावच्छिन्नानुमितिनिष्ठप्रकारतानिरुपितचैत्रनिष्ठविशेष्यतात्मकः। अतीतानागतपदार्थे ज्ञानविषयतासम्पादनाय जन्यज्ञानीयापि ज्ञानपूर्वपरवर्त्तिनी विलक्षणैव सा स्वीकार्या। भगवज्ज्ञानीयविषयता तु सर्वथैव नित्यैवोचितेति तदधिकरणताया अपि नित्यत्वमेवोचितम्। इत्थञ्च तादृशाधिकरणताया अनुमितिपूर्वपरामर्शशून्यकालेऽनुमित्युत्तरसमये च सत्वात् तदानीं अनुमित्यापत्तिः स्यादित्यभिप्रेत्याह—"क्षणलवादिभेदेनेति"। न च यदि ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यत्वाधिकरणता नित्या स्वीक्रियते तदा तस्या व्याप्यवृत्तित्वात् ग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरुपितविशेष्यताश्रयसमयावच्छिन्नत्वमपि तत्र दुर्घटमिति कथं ग्रन्थसङ्गतिरिति वाच्यम्, व्याप्यवृत्तिपदार्थेऽपि देशकालावच्छिन्नत्वमङ्गीकृत्यैव प्रकृतग्रन्थोपन्यासात्। यद्वा व्याप्यवृत्तेरवच्छेदकत्त्वानङ्गीकारे प्रकृतिकार्यकारणभावो न सङ्घटयितुं योग्य इत्यस्वरसेनैव कार्यकारणभावान्तरमुपन्यस्यति—"क्षणलवादीति"।

एतत्कल्पेऽपीश्वरज्ञानमेव तद्व्यक्तित्वेन कारणम्। कारणातावच्छेदकसम्बन्धमाह—"स्वीयेति"। "प्रकारताविशिष्टविशेष्यतैवेति"। तादृशप्रकारताविशिष्टविशेष्यत्वाधिकरणतैवेति तदर्थः। तेन भगवज्ज्ञानीयसम-

रूपितविशेष्यताश्रयसमयविशिष्टत्वोभयसंसर्गेण । समयविशिष्टत्वं चाधेयतया, निरुक्तसम्बन्धेन भगवज्ज्ञानसत्तायाः सम्बन्धघटकसमयसत्तानियतत्वाभ्युपगमात् न परामर्शादिशून्यकालेऽनुमित्यापत्तिः । एवमेव शाब्दबोधादौ सर्वत्र कार्ये कारणताभ्युपेया लाघवस्यातिस्फुटत्वात् । न चैवं धूमादिकार्ये वह्न्यादेरपि कारणत्वं न स्यात् अनेककारणकल्पनापेक्षयैकस्य भगवज्ज्ञानस्य कारणत्वेऽतिलाघवादिति वाच्यम्, घटादौ दण्डादेरनुमित्यादौ-

---

वायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताविशिष्टा या या विशेष्यता सा च विशिष्टसत्तावदनतिरिक्तेति । सा विशेष्यता ज्ञानसमानकालीना परामर्शात्पूर्वसमयेऽनुमित्युत्तरसमयेऽप्यस्तीति तदानीं नानुमित्यापत्तिः, विशिष्टाधिकरणताया विलक्षणत्वात् । एतदाशयेनैव "निरुक्तसम्बन्धेने"त्यादि । "न परामर्शशून्यकालेऽनुमित्यापत्तिरि"त्यन्तग्रन्थेन प्रकृतनिर्वाह समर्थित इति ध्येयम् ।

"शाब्दबोधादाविति" । अनयैव दिशा सर्वत्र भगवज्ज्ञानस्यैकस्य कारणताङ्गीकर्त्तव्या लाघवादित्यर्थः । शङ्कते—"न चेति" । उत्तरयति—"दण्डादेरिति" । तादृशकार्यकारणभावस्तु माध्यमिकस्तत्फलं प्रवृत्त्यादि, घटादौ दण्डस्य, धूमादौ वह्नेः, तृप्तौ भोजनस्य कारणत्वानङ्गीकारे घटार्थं दण्डानयने, धूमार्थं वह्न्यानयने, तृप्त्यर्थं भोजनकरणे च कथं प्रवृत्तिः स्यादिति तादृशकार्यकारणभावोऽप्यावश्यक एवेति भावः । समयवैशिष्ट्यञ्चाधेयतयेति । सा चाधेयता कालिकसम्बन्धावच्छिन्ना बोध्या । इयञ्च विशेष्यता भगवज्ज्ञानीयासमवायसम्बन्धावच्छिन्ना चैत्रनिष्ठा ग्राह्या । वैशिष्ट्यघटकीभूता या विशेष्यता साऽपि भगवज्ज्ञानीयग्रन्थोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणनिष्ठा विशेष्यता तदाश्रयो यः स एव क्षणः कालिकसम्बन्धावच्छिन्नाधेयतासम्बन्धेन तद्विशिष्टाया समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता निरूपिता चैत्रनिष्ठा विशेष्यता पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टतादृशविशेष्यतात्वावच्छिन्नस्व-

बाधाभावादेः कारणत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन दुरपह्नवत्वात् । येषां धूमादिपरामर्शादीनां व्यभिचारेण कारणता न संभवति धूमादिपरामर्शत्वादिना तेषां ज्ञानत्वेनैव कारणताभ्युपेया, न तु व्यभिचारवारणप्रयासेन गुरुभूताः कार्य्यकारणभावाः कल्पनीयाः अतिप्रसङ्गवारणस्य भगवज्ज्ञानस्य निरुक्तकारणतयैव संभवात्,

---

रूपसम्बन्धावच्छिन्ननिरूपकतानिरुपिताधिकरणतैव कारणतावच्छेदकस्सम्बन्धो बोध्यः । तेन सम्बन्धेनानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षण एव ईश्वरज्ञानसत्ता । यथा पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटत्वावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धावच्छिन्ननिरुपकताकाधिकरणता भूतलेऽपि तत्क्षणावच्छेदेनैव वर्त्तते तथा तत्कल्पे कथमपि नातिप्रसङ्गसम्भावनेति सर्वमवदातमिति ध्येयम् ।

"येषामिति" । "धूमपरामर्शत्वादिनेति" । अयमाशयः वह्न्यनुमितिं प्रति धूमपरामर्शत्वेन कारणता न वक्तुं शक्या आलोकपरामर्शाज्ज्ञायमान वह्न्यनुमितौ व्यभिचारादिति तद्वारणाय धूमपरामर्शोत्तरजायमानवह्न्यनुमितौ धूमपरामर्शत्वेन आलोकपरामरामर्शोत्तरानुमितौ चालोकपरामर्शत्वेन कुरुतां कार्यकारणभावकल्पनम् । कारणतावच्छेदककुक्षौ कार्योत्पादादिकमपि निवेश्य न कर्त्तव्यम्, ज्ञानत्वेन वह्निव्याप्यज्ञानत्वेन वा एकरूपेण सर्वेषां धूमादिपरामर्शादीनां कारणत्वकल्पनमुचितमिति भावः । ननु ज्ञानत्वेन कारणत्वाङ्गीकारे घटज्ञानसत्त्वेऽपि वह्न्यनुमित्यापत्तिः । धूमपरामर्शसत्त्वेऽन्यलिङ्गकेच्छासत्त्वे वा कथन्न वह्न्यनुमितिरित्यत आह—"अतिप्रसङ्गवारणस्येति" । तथा च घटधारणक्षणे अन्यलिङ्गकानुमितीच्छाक्षणे वा ग्रन्थोक्तसम्बन्धेन भगवज्ज्ञानसत्ताया एवाभावात् तदग्रिमक्षणे नानुमित्यापत्तिरिति भावः । सामग्रीसंबलनादेव कार्योत्पादस्य सर्वसम्मतत्वात् केवलदण्डसत्वे घटानुत्पत्तेः । तथा च प्रवृत्यादिनिर्वाहाय माध्यमिककार्यकारणभावोऽस्तु । व्यभिचारवारणं तु भगवज्ज्ञानस्यैकस्य निरुक्तसम्बन्धेन कारणत्वाभ्युपगमादेव भवतीति न काऽप्यनुपपत्तिरिति भावः ।

स्याद् वेतरकारणविलोपः, प्रतिकार्यमनेकानि कारणानि कल्पयता-मेकस्य भगवज्ज्ञानस्य कारणत्वमनभ्युपेयतां नास्तिकानां नास्ति कारणमन्यन्मूकीभावाय, न्यायदर्शने कारणप्रपञ्चप्रदर्शनं तु भगवज्ज्ञानकारणताकल्पनव्युत्पत्तिसम्पादनाय, असत्ये वर्त्म-नीति न्यायात्, । लाघवगौरवोपसन्दानेन कार्यकारणभावप्रदर्शनं

तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन नास्तिकमुद्दिश्य आह—"स्याद्वेति"। "प्रतिकार्येति"। तथा चेश्वरोऽस्ति नास्ति वा इत्यत्रैवावयोर्विवादः। तत्र चैकस्यैव ईश्वरज्ञानस्य कारणत्वकल्पने यदि दोषदानावसरो दुरापाद्यस्तदा इदमेव कार्यकारणभावकल्पनं भवतां मूकीभावाय पर्याप्तमित्यलम्पलल-वितेनेति भावः। ननु भवान्नैय्यायिको भूत्वा कथमेकस्येश्वरज्ञानस्य कार-णतामुपपादयति न्यायग्रन्थे प्रतिकार्यम् अनेकानि कारणानि स्वीकुर्वन्ति निबन्धकृत इति नास्तिकशङ्कां निराकरोति—'न्यायदर्शने कारणप्रपञ्च-प्रदर्शनमिति"। "भगवज्ज्ञान इति"। एकस्येश्वरज्ञानस्यैव प्रदर्शितदिशा कारणत्वकल्पनात् सर्वत्र निर्वाहो भवतीति व्युत्पत्तिसम्पादनाय "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततस्सत्यं समीहते" इति न्यायादित्याशयः।

ननु वस्तुगत्या भगवज्ज्ञानमेकमेव कार्यमात्रं प्रति कारणम्, तदा न्यायप्रचुरग्रन्थे एवंरूपेण कारणत्वस्वीकारे लाघवं गौरव वेत्यादि विचारः कस्मात्कृतः इत्याशङ्क्य आह—"लाघवगौरवोपसन्दानेनेति"। अन्वयव्यति-रेकाभ्यां सर्वत्र परामर्शादौ दण्डादौ वा कारणताग्रहो जायते तत्रापि यदंशे लाघवज्ञानं सहकारि तत्रैव कारणताग्रहः इत्यादि विचारः सर्वत्र पुरुषव्यु-त्पत्तिसम्पादनार्थमेव, न तु वास्तविक इत्याशयः। इत्थञ्च तादृशव्युत्पत्ति-बलादेव बहुतरविशेषणघटितं बहुतरकारणं गौरवात् परित्यज्य भगवज्ज्ञान-मेकमेव सर्वत्रकार्यकारणं लाघवादिति निर्णीय तदाश्रयत्वेन सिद्ध्यत्यना-दिनिधनः पुरुषधौरेय ईश्वर इति भावः।

हि लाघवगौरवज्ञानं भवति कार्यकारणभावग्रहजनने प्रमाणस्य सहकारीति पुरुषं व्युत्पादयति, तथा व्युत्पन्नस्तत्पुरुष इतरकारणमनेकं गौरवादपहाय भगवज्ज्ञानमेकमेव कारणं लाघवात्कल्पयतीति सिद्ध्यत्यनादिनिधनः पुरुषधौरेयः। सामग्रीणामनेककारणघटितानां कार्यप्रयोजकतापि नात्र कल्पे कल्पनीयेत्यपि महल्ला-

---

"सामग्रीणामिति"। अयमाशयः देशव्यत्यासवारणाय प्रागभावस्य कल्पनमस्ति तथा हि धटत्वावच्छिन्नोऽयं घटः यथाऽस्मिन् घटे उत्पद्यते तदन्यो घटः कपालान्तरेतौ च···व्यत्यासेन कुतो न जायेते इत्येतद्दोषवारणाय प्रागभावः कल्प्यते। यथा च समवायेन स्वप्रतियोगिकार्यं प्रति स्वरूपेण प्रागभावः कारणम्, प्रागभावोऽपि तत्तद्घटप्रतियोगिको भिन्न एव। यो हि घटो यस्मिन् कपाले जायते तत्प्रागभावोऽपि तत्रैव स्वीक्रियते। अस्य च तद्देशमात्रवृत्तित्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धम्। इत्थञ्च यत्प्रागभावो यत्र, तत्रैव तदुत्पत्तिः। तथा च न देशव्यत्यासेन उत्पत्तिसम्भावनेति वस्तुस्थितिः। प्रकृते भगवज्ज्ञानस्यैकस्यैव कारणत्वमङ्गीकृतमस्ति। घटकार्यस्थलेऽपि कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः समवायः, कारणतावच्छेदकसम्बन्धश्च स्वीयघटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या कपालनिष्ठविशेष्यता तदधिकरणता साऽप्युक्तप्रकारताविशिष्टैव सम्बन्धः तत्र प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च स्वसमानाधिकरणा या या स्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्वस्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्ना घटनिष्ठप्रकारता तन्निरूपिता या घटोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणनिष्ठा विशेष्यता तदाश्रयीभूतघटोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणावच्छिन्नत्वम् समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वस्य या कपालनिष्ठाधिकरणता तस्यां घटोत्पत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेन सर्वत्र एव कारणसम्पत्त्या अग्रिमक्षणे कार्योत्पत्तिः। न च घटनिष्ठसमवायावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित विशेष्यतायाः घटोत्पत्तिपूर्वक्षणेऽसत्वात् कथं तत्क्षणावच्छिन्नत्वं तत्र इति वाच्यम्, विशेष्यताया ज्ञानस्वरूपत्वोपगमात् तदधिकरणताया अपि मूलग्रन्थकारैरनुपदमेव नित्यत्वोपगमात् न काऽप्यनुपपत्तिरित्याशयाः।

घवम् । प्रागभावासत्वे तु स्वप्रागभावाधिकरणसमयप्रागभावानधिकरणत्वस्थाने स्वोत्पत्तिकालीनध्वंसप्रतियोगिवृत्तिध्वंसप्रतियो-

---

यद्यप्येतादृशसामान्यकार्यकारणभावात् कथमपि न देशव्यत्यासेनोत्पत्तिवारणसम्भावना, तथाऽपि यत्सामान्ययोस्तद्विशेषयोरपि इति न्यायात् समवायेन घटात्मकतद्व्यक्तिकार्यं प्रत्यपि भगवज्ज्ञानस्य कारणत्वमभ्युपेयते । तत्र कार्यतावच्छेदकसम्बन्धः समवाय एव । कारणतावच्छेदकसम्बन्धस्तु स्वीयतद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रकारताविशिष्टाधिकरणता । प्रकारतावैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितसमवायनिष्ठसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपितत्व—स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसंबन्धावच्छिन्नघटात्मकतद्व्यक्तित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताश्रयसमयावच्छिन्नत्वोभयसम्बन्धेन । तथा चैतत्सम्बन्धेन कारणसत्ता तद्घटोत्पत्तिपूर्वक्षणावच्छेदेन तत्कपाले एव वर्त्तते न त्वन्यस्मिन् कपाले इति न देशव्यत्यासेनोत्पत्तिसम्भावना । किञ्चैतादृशविशेषकार्यकारणभावकल्पनेऽपि प्रागभावात्मकधर्मकल्पनलाघवस्याक्षतत्वादित्याशयवानाह "प्रागभावासत्व इति" ।

"स्वोत्पत्तिकालीनेति" । न स्वस्वोत्पत्तिकालीनो यो ध्वंसः स च स्वोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणध्वंसः, एवं तस्मिन् क्षणे विनश्यदवस्थाः ये तत्तत्तृणवायुपृथिवीपरमाणुनां संयोगात्मकाः तेषां विभागात्मकाद्याः पदार्थाः तेषां ध्वंसा अपि स्वोत्पत्तिकालीना भवितुमर्हन्ति इति तादृशध्वंसप्रतियोगिनो ये प्रदर्शितपरमाणूनां संयोगा विभागा वा तदधिकरणत्वस्यैव निरुक्तोत्पत्तिपूर्वक्षणे सत्त्वात्, तादृशप्रतियोग्यनधिकरणत्वघटितप्रदर्शितसम्बन्धद्वयेन कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे कारणसत्ता दुर्घटेति चेत्सत्यम्, स्वोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणकालीनध्वंसप्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य तदर्थत्वात् स्वोत्पत्तिकालीनत्वस्य ग्रन्थकारोक्तपरिष्कारेणापि न प्रकृतदोषनिस्तारः । तथा हि स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणो यः समयः स च स्वोत्पत्तिक्षणः तद्वृत्तिर्यो ध्वंसः स च

ग्यनधिकरणत्वं निवेशनीयम् । स्वोत्पत्तिकालीनत्वं तु स्वाधिकरण-

---

तत्पूर्वक्षणोत्पन्नसंयोगादिध्वंसः तत्प्रतियोग्यधिकरणजन्यकार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे निराबाधितत्वादिति । तथा च भगवज्ज्ञानमेव कार्यमात्रं प्रति कारणम् । कार्यतावच्छेदकसम्बन्धसमवायः, कारणतावच्छेदकसम्बन्धस्तु स्वीयघट-त्वावच्छिन्नप्रकारताविशिष्टाधिकरणता । वैशिष्ट्यञ्च स्वनिरूपितसमवाय-निष्ठसंसर्गतानिरुपितविशेष्यतात्वावच्छिन्ननिरुपकतानिरुपितत्वसम्बन्धेन । अत एव प्रतिक्षणं कस्यचिन्नाशस्याभ्युपगमान्न पूर्वतृतीयक्षणसंग्रहः इत्य-ग्रिमलेखोऽपि साधीयान् सङ्गच्छते । स्वोत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोग्य-नधिकरणत्वस्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसंबन्धावच्छिन्ना या घटत्वावच्छिन्ना भगवज्ज्ञानीयप्रकारता, तन्निरुपितविशेष्यताश्रयसमया-वच्छिन्नत्वोभयसम्बन्धेन । इत्थञ्च निरुक्तसम्बन्धेन कारणसत्ता कार्यपूर्व-क्षणे कार्योत्पत्तिक्षणे चाबाधितेति न काप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् ।

यद्वा निबन्धकारोक्तयथाश्रुतमेव साधु, कार्यपूर्वक्षणे कारणसता मास्तु, कार्योत्पत्तिक्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वमेव कारणत्वं प्रकृते निर्वाच्यम् । तथैव प्रकृतग्रन्थस्य निर्वाह इति विद्वदग्रगण्यैर्निपुणतरं विभावनीयमिति दिक् ।

वस्तुतस्तु स्वोत्पत्तिकालीनेत्यस्य स्वोत्पत्तिक्षणवृत्तीत्यर्थः । तत्र वृत्तित्वं च स्वाधिकरणत्वस्वाधिकरणसमयध्वंसाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन । इत्थञ्च कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणोत्पन्नध्वंसस्यैव स्वोत्पत्तिकालीनपदेन धारणं सम्भवति न तु कार्योत्पत्तिक्षणोत्पन्नध्वंसस्येति कार्योत्पत्तिपूर्वक्षणे तादृशध्वंसप्रतियो-ग्यनधिकरणत्वस्य निराबाधितत्वात् न किमप्यनुपपन्नमिति यथाश्रुतमेव साधु सङ्गच्छत इति ध्येयम् । "स्वोत्पत्तिकालीनत्वन्तु" इति यद्यपि स्वोत्पत्ति-कालीनत्वम् स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वे सति स्वाधिकरणीभूतो यः समयस्तादृशसमयवृत्तित्वरूपमेव वक्तुमुचितम्, तथापि तादृशपरिष्कारे कार्याव्यवहितपूर्वक्षणे कारणसत्ता आवश्यकी, सा च विघटिता भवेत् ।

समयध्वंसानधिकरणसमयवृत्तित्वम्, प्रतिक्षणं कस्यचिन्नाशाभ्युपगमात्, न पूर्वतृतीयक्षणसंग्रहः।

न च प्रतिव्यक्ति प्रकारताविशेष्यताभेदाभ्युपगमे महागौरवमिति वाच्यम्, भगवज्ज्ञानानभ्युपगमेन स्मृत्यादौ अनुभवादि कारणतामभ्युपगच्छतां प्रतिव्यक्ति प्रकारताविशेष्यतादिभेदस्यावश्यकत्वेऽधिकस्य नानाकारणकल्पनागौरवस्य दुःपरिहरत्वात्।

तथा हि पर्वतोद्देश्यकवह्निविधेयताकानुमितिनिष्ठा या भगवज्ज्ञानीया या वास्तविकस्वोत्पत्तिकालीनध्वंसप्रतियोग्यनधिकरणत्वस्वाधिकरणत्वस्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता तन्निरूपितविशेष्यताश्रयसमयस्तु स्वोत्पत्तिक्षण एव न तु तत्पूर्वक्षणः तस्य अनुमित्युत्पत्तिक्षणोत्पन्नो यः परमाणुद्वयसंयोगध्वंसस्तत्प्रतियोगितादृशसंयोगाधिकरणत्वात्। न च ग्रन्थकारोक्तपरिष्कारेपि स्वोत्पत्तिकालीनध्वंसपदेन निरुक्तध्वंसमादाय तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य अनुमित्युत्पत्तिक्षणपूर्वक्षणे विरहात् निरुक्तदोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम्, एतन्मनसिकृत्यैव ग्रन्थकृता स्वोत्पत्तिकालीनत्वस्य परिष्कारे स्वाधिकरणसमयध्वंसानधिकरणसमयोत्पत्तिकत्वमपहाय तादृशसमयवृत्तित्वमित्युक्तम्। अत्र वृत्तित्वं स्वाधिकरणत्वस्वाधिकरणसमयध्वंसाधिकरणत्वोभयसम्बन्धेन। इत्थञ्च स्वमनुमितिः तदधिकरणसमयध्वंसानधिकरणं यः समयः, स चानुमित्युत्पत्तिक्षणमारभ्य तत्पूर्वपूर्वक्षणाः, अनुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणपर्यन्तस्थायिपरमाणुद्वयसंयोगस्य यो ध्वंसः स च निरुक्तोभयसम्बन्धेनानुमित्युत्पत्तिक्षणवृत्तिः किन्तु तत्पूर्वक्षणपर्यन्तस्थायिपरमाणुद्वयसंयोगध्वंस एवेति तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्यानुमित्यव्यहितपूर्वक्षणे निराबाधितत्वान्न काप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम्।

"प्रतिक्षणं कस्यचिदिति" यदि प्रतिक्षणं कस्यचित् पदार्थनाशस्य नियमो न स्यात्तदा यत्रानुमित्यव्यवहितपूर्वक्षणे न कस्यापि नाशो जातः, जातस्य तत्पूर्वक्षणे तस्यापि प्रकृतपरिष्कारेणस्वोत्पत्तिकालीनतया तत्प्रति-

न च तत्तद्व्यक्तेः कार्यरूपायाः अन्यत्र देशे काले चापत्तिवारणाय तत्तत्कार्ये तत्तद्देशस्य तत्तत्कालस्य च कारणत्वावश्यकत्वे किमनया भगवज्ज्ञानकारणतयेति वाच्यम्, नानादेशसमवेतकार्ये तत्तद्देशकारणतायाः समानकालीनानां लवानां च विनिगमनाविरहेण तत्त्वतत्त्वेन तत्कारणतायाश्चानन्तत्वेन गुरुतया समवायेन तत्तत्कार्ये समवायसम्बन्धावच्छिन्नतत्तत्कार्यवृत्तिप्रकारताविशिष्टविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानस्य तत्त्वेन कारणत्वस्य स्वीकर्त्तुमुचितत्वात् । प्रकारताविशिष्टत्वञ्च स्वनिरूपितत्वस्वसमानाधिकरणनिरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-

---

योग्यनधिकरणत्वस्यानमितिपूर्वतृतीयक्षणे सत्त्वात् तदग्रिमक्षणे अनुमित्यनुत्पत्त्या विचारः प्रसज्येत । यदि तत्क्षणेऽपि कस्यचित्पदार्थस्य परमाणुद्वयसंयोगादेर्नाशो भवेत्, तदा स्वोत्पत्तिकालीन ध्वंसपदेन अनुमित्यवहितपूर्वक्षणोत्पन्नध्वंसमादाय तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वस्य तत्पूर्वक्षणे विरहान्न काप्यनुपपत्तिरितिभावः ।

ननु भगवज्ज्ञानस्य बहुतरसम्बन्धघटिता प्रतिकार्यमेका कारणता । समानकालीनघटयोर्देशविनिमयेन कुतो नोत्पत्तिरिति तद्वारणाय प्रागभावस्य प्रतिकार्यमन्या कारणता कल्पनीया । एवं विनिगमनाविरहेण तत्तत्कार्यं प्रति तत्तद्देशस्य वा, एवं तत्तत्कार्यसमवायिकारणदेशवृत्तितत्तत्कार्याव्यवहितप्राक्क्षणोत्पन्नवायुकपालसंयोगध्वंसादेर्वा कारणताङ्गीकर्त्तव्येति किं भगवज्ज्ञानस्य कारणताकल्पनेनेति शङ्कते—"नचेति" । परिष्कारान्तरेणैकस्य भगवज्ज्ञानमात्रस्यैव कारणतामङ्गीकृत्य देशकालविनिमयेन कार्योत्प(त्ति)रपि सम्भवतीति समाधत्ते "नानादेशसमवेतेत्यादि" । तत्तद्देशतत्तत्कालकारणताकल्पने प्रदर्शितरीत्या महद्गौरवम्, तदपेक्षया भगवज्ज्ञानस्यैकस्य नानासम्बन्धघटिताप्येकैव कारणता कल्प्येत इति मदीयपक्षे महल्लाघवमित्याह "नानादेशे" त्यारभ्य "कारणतायाश्चानन्तत्वेन गुरुतये"-त्यन्तग्रन्थेनेति । (इति ।।)

विशेष्यताश्रयसमयविशिष्टत्वोभयसम्बन्धेन बोध्यं कालव्यत्यासस्याप्यनेनैव वारणान्न तद्वारणाय कारणान्तरं कल्पनीयम् । सर्वत्र कार्यकारणमेकमेवास्माकमित्यपि महल्लाघवम् । प्रागभावकारणतया तु न कालव्यत्यासवारणं प्रत्युतानेकव्यक्तिकल्पनागौरवम् । सामग्रीव्याप्तेः प्रामाणिकत्वे तु भगवज्ज्ञानीयप्रकारतायाः सम्बन्धत्रयेण कारणत्वमुपेयम्, तावतैव सकलसाङ्कर्य्यनियमनम् । तथा हि समवायेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति स्वनिरूपितसमवायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन, तादात्म्येन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति स्वरूपसम्बन्धेन, कालिकविशेषणतासम्बन्धेन जन्यभावत्वावच्छिन्नं प्रति स्वसमानाधिकरणतज्ज्ञानीयकालिकसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन भगवज्ज्ञानीयप्रकारतायास्तज्ज्ञानीयप्रकारतात्वेन 'कारणतादिक्षणे

---

१. "कारणातासामग्रीव्याप्तिः, स्वरूपशम्बन्धेन यत्राधिकरणेन प्रत्यासन्ना सति, स्वसमानाधिकरणकालिकविशेषणता सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत निरूपित विशेष्यतासम्बन्धेन यत्राधिकरणे प्रत्यासन्ना तज्ज्ञानीयप्रकारतास्वनिरूपितसमावायसंसर्गतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन यत्राधिकरणे प्रत्यासीदति, तत्र प्रथमाधिकरणे तत्र तादात्म्येन प्रत्यासीदति सति द्वितीयाधिकरणे तत्र कालिकेन प्रत्यासन्ना कार्यव्यक्तिः समवायेन प्रत्यासीदति इत्युदाहरणप्रतिपाद्या बोध्या । एतेन तादात्म्येन जन्याभावत्वावच्छिन्नं प्रति प्रतियोगितया, समवायेन तदवच्छिन्नं प्रति च विशेषणतया प्रागभावस्य कारणतासामग्रीव्याप्त्या देशनियमन कार्याणामित्यपास्तम् । तथापि कालानियमनात् अनन्तप्रागभावगौरवाच्च तादात्म्येन कार्ये प्रतियोगितया प्रागभावकारणतावच्च तादात्म्येन कार्यस्वरूपसम्बन्धेन तज्ज्ञानीयप्रकारता कारणता, कार्यप्राक्काले कार्ये प्रतियोगितया प्रागभावसत्तावच्च स्वरूपसम्बन्धेन भगवज्ज्ञानीयप्रकारतासत्तावसेयेति दिक् ।

पितृचरणास्तु तादात्म्येन कार्ये तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशे-

(शेष पृष्ठ १२३ पर देखें)

सता नियम्यत एव। तथा च सृष्टिस्थितिप्रलयनियामकत्वं भगवज्ज्ञानस्योपपाद्यते ध्वंसेऽपि तस्य नियामकत्वात्। प्रतियोगितयाऽपि कार्ये तस्य तथैव नियामकत्वात्। न च तज्ज्ञानव्यक्तेः कथमुपस्थितिः ज्ञानत्वेनैव हेतुत्वे भ्रमातिप्रसक्तत्वमिति बोध्यम्। क्षित्यादिकं बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वात् इत्यनुमानात् लाघवान्नित्यैव बुद्धिः सिद्ध्यति इति, तयाप्यनुमतमिति नित्यबुद्धित्वेनैव हेतुत्वे नित्यत्वञ्च बुद्धौ कालिकेन। बुद्धिमतोऽन्यत्वं नित्यबुद्धत्वमपि परिचायकमेव न ह्येकमात्रवृत्तिः कारणताकेनाप्यवच्छिद्यत इत्यस्माभिरुपगमादिति प्राहुः।

प्रमाणान्वेषिणामेष धीराणां धैर्य्यवर्धनः।
स्यात्प्रमाणप्रमोदोऽयं मोदेन हरिणेक्षितः।।

इति प्रमाणप्रमोदः समाप्तः।।

ष्यतया समवायेन कार्ये समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया कालिकविशेषणतया च कार्ये कालिकविशेषणतासंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया भगवज्ज्ञानस्य कारणत्वं सामग्रीव्याप्त्या च कार्यनियमनम्। तथाहि तादात्म्यसंसर्गावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया यत्राधिकरणे प्रत्यासन्नं तज्ज्ञानं तन्निष्ठसमवायावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया यत्र प्रत्यासीदति, तत्र तादात्म्येन प्रत्यासन्नस्य कार्यस्य समवायेन तदधिकरणम् एवं कालिकादिसम्बन्धमादायापि द्रष्टव्यम्। कार्यस्यसत्वे प्रथमत्वञ्चाविवक्षितम्। कार्यस्य प्रथमक्षण इव द्वितीयादिक्षणे।" इति पं० लोकनाथझा लिखितपुस्तके अधिकः पाठः।

परिशिष्टम्